जैन जगत् की महिलाएं

जिनका उज्जवल चरित, धरतीतल पर बिखर चुका है।
अग्नि-परीक्षा में सतीत्व, सोने सा निखर चुका है॥
उन्हीं देवियों के जीवन की, झलक एक लासानी।
नारी-जन की स्फूर्ति-दायिनी, उनकी अमर-कहानी॥

—लेखक
उपाध्याय
मुनि श्री प्यारचन्दजी म०

प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ

गगाशहर-भीनासर

प्रथम सस्करण—१००० (सन् १९८२)

मूल्य—सात रुपये पचास पैसे

मुद्रक :

जैन आर्ट प्रेस,

(श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

समताभवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राजस्थान)

पि-३३४००१

प्रकाशकीय

'कथा' तात्कालीन युग के व्यक्ति, देश एवं काल के जीवन का इतिहास ही होता है। सामाजिक और धार्मिक व्यवहार की रीति-नीति की झाकी भी स्पष्टत: सहज ही मे हो जाती है। जिसमें भूले-भटके या कहें दिशा भ्रमित युग, समाज एवं व्यक्ति के लिए सत्य के सजीवनी तत्वों का समावेश अनिवार्य रूप से होता है। किन्तु आवश्यकता है; सच्चे जिज्ञासु साधक की। प्रशस्त मार्ग हमारे सम्मुख है। परन्तु ज्योति के होते हुए भी मोहमयी भूल-भुलैया में ही रहा जाये, तो दोष किसका ?

प्रस्तुत "जैन जगत की महिलाएं पुस्तक में वर्णित प्रात: स्मरणीय महासतियों का जीवन संघर्ष-विजय के लिए ज्योति-स्तंभ है। आज के विश्व एवं मानव-समाज के प्रति जैन जगत की महिलाओं का स्वर्ण-संदेश है, कि 'भौतिकता को छोड कर आध्यात्मिक की सुखदा-वरदा छाया ग्रहण करो!'

श्री अजितमुनिजी 'निर्मल' की संपादकीय सूझ-बूझ से प्रस्तुत पुस्तक का सर्वथा आधुनिक रूप पाठकों का मन मोह लेगा।

पाठकों की आग्रहपूर्ण एवं निरतर माग ने पुस्तक का प्रकाशन शीघ्र और सुलभ कर दिया है। इसकी उपयोगिता अब आप के हाथों सौंपी जा रही है

— भवदीय —

अध्यक्ष
स्वरूपचंद तालेड़ा

मंत्री.—
अभयराज नाहर

श्री जैन-दिवाकर दिव्य-ज्योति कार्यालय
मेवाडी बाजार. ब्यावर (राजस्थान)

का चातुर्मास होना निश्चित हो गया तो 'श्री गंगाशहर–भीनासर साधुमार्गी जैन श्रावक संघ' ने चातुर्मास की सुव्यवस्था हेतु अनेक प्रकार की समितियां बनाईं, जिनमे से 'प्रवचन प्रकाशन समिति' भी एक थी। मुझे इस समिति का सयोजक बनाकर यह दायित्व सौंपा गया कि परम पूज्य आचार्यश्री जी की पीयूष–वाणी का प्रसाद स्थानीय जनता के साथ ही सुदूर क्षेत्रों मे बैठे हुए धर्मनिष्ठ जनों तक भी पहुचाया जावे, जिससे अधिकाधिक लोग आचार्य श्रीजी के वचनामृत का पान कर अपने जीवन को पुनीत और सात्त्विक बना सकें। इस कठिन किन्तु पवित्र दायित्व की पूर्ति में आत्मिक आनन्द हिलोरें ले रहा था। अतः आचार्य श्रीजी की वाणी को शीघ्रातिशीघ्र आप सभी तक पहुचाने के लिए 'समता के स्वर' ग्रन्थमाला का यह १५ वा पुष्प प्रकाशित किया गया है। इसी क्रम मे प्रथम पुस्तक मंगल–वाणी के नाम से गत वर्ष प्रकाशित हो चुकी है। यह दूसरी पुस्तक आपके हाथो मे सौंपते हुए हमें सुखद गौरव का अनुभव हो रहा है। इसी क्रम मे तीसरी पुस्तक प्रकाशनाधीन है और आशा है कि उसे भी हम आपके हाथो मे शीघ्र ही सौंपने में सफल होंगे।

इस सुअवसर पर हम यह भी स्पष्ट कर दें कि इन प्रवचनो के प्रकाशन, मुद्रण या किसी अन्य प्रबन्ध मे परम पूज्य आचार्यश्री जी म सा. का कोई सम्बन्ध नहीं है। अत इस सकलन मे कोई भी शब्द या वाक्य संक्षेप मे आ गया हो अथवा मूल भाव से कही कोई अन्तर दिखाई दे तो इसके लिए हम ही उत्तरदायी हैं। गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है। उनके प्रकाशन, मुद्रण एव प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलो को स्वीकार करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

स्वल्प समय मे ही जैन आर्ट प्रेस ने इसका मुद्रण कर सुज्ञ पाठको के हाथो मे पहुचाने मे सहयोग दिया, एतदर्थ हम इनके आभारी हैं।

विश्वास है यह पुस्तक आपकी आत्मोन्नति के मार्ग में पथ प्रदर्शक सिद्ध होगी।

विनीत

चम्पालाल डागा

संयोजक; प्रवचन प्रकाशन समिति

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ

गंगाशहर–भीनासर

बिना गहन विचार किये ही हमने आर्शीवाद के रूप में स्वीकार कर लिया है। 'लोको हि अभिनवप्रिय.' इस कहावत के अनुसार नयी-नयी बातें स्वभावत आकर्षक होती हैं। यही उस निर्विचार स्वीकार का कारण है। इन सब कारणों से हमें अपनी सस्कृति की वास्तविकता का पता लगाना भी अत्यन्त दुष्कर हो गया है।

यही नहीं, ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता गया, त्यों-त्यों देश और काल के प्रभाव से सस्कृति में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन होता गया है। उस परिवर्तन का योग विचार करने पर बहुत विशाल मालूम होता है।

मेरा ख्याल है, कि आर्य सभ्यता की उत्तमता और उन्नति का बहुत कुछ आधार नारी-प्रतिष्ठा है। यद्यपि मध्य-काल में पहले की-सी नारियों की प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर नहीं होती, उसमे नारी को अपने समुन्नत आसन से गिराने की चेष्टा नजर आती है। फिर भी आदि में उसका बहुत ऊंचा स्थान रहा है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता·" यह वाक्य जिसने लिखा है। वह वेशक समाज-शास्त्र का बड़ा गभीर ज्ञाता था। सच मुच जहा नारी की प्रतिष्ठा है, वहीं देवता-दिव्य शक्ति-सम्पन्न पुरुष रमण करते हैं–आनन्द-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते है। वास्तव में नारी, पुरुष की जननी है, मानव-समाज की 'शक्ति' है। वह नन्दन-कानन का सुरभि सम्पूर्ण सुमन ही नहीं है, दुनिया की इस भीषण मरुस्थली में कलकलनाद करने वाली सरिता भी है। उसकी कोमलता में कठोरता और कठोरता में कोमलता छिपी है। वह 'काली' है, 'महाकाली' है, साथ ही 'कल्याणी' और 'वरदानी है। वह ससार में वात्सल्य, दया, क्षमा आदि सुकुमार भावों का प्रतिनिधित्व करने वाली सत्ता है। उसकी प्रतिष्ठा में ही संसार की प्रतिष्ठा है। वही तीर्थंकरों की जननी है, अवतारों की माता है,

किए गए सम्पादन में वे कितनी प्रभाव साम्यता पाते हैं ? वैसे मेरा सम्पूर्ण प्रयत्न यह रहा है कि सम्पादन में मैं अधिक से अधिक आचार्यश्री की ही मौलिक भाषा, भाव तथा शैली का निर्वाह करूं । इस सम्पादित संकलन में पाठकों को जो श्रेष्ठता दृष्टि में आवे, वह श्रेष्ठता निश्चित रूप से आचार्यश्री की प्रवचन-धारा की है किन्तु भाषा, भाव और शैली सम्बन्धी कहीं जो भी दोष दिखाई दे, उसका पूरा उत्तरदायित्व सम्पादक का है ।

मेरी हार्दिक कामना है कि प्रस्तुत प्रवचनों से प्रबुद्ध पाठक प्रेरणा ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बनावें ।

शान्तिचन्द्र मेहता
एम.ए., एल-एल. बी., एडवोकेट

कुंभानगर, चित्तौड़गढ़

इस प्रकार जब शक्ति की लांछना और अवगणना हुई, तो उसका जो फल होना चाहिये था, वही हुआ। नारी 'अबला' हो गई, तो हम सबल कैसे रह सकते थे ? 'शक्ति' को कुचल कर हम सशक्त हो ही नहीं सकते। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' अर्थात् स्त्री स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं है, इस विचित्र विधान ने जैसे ही नारी की स्वाधीनता का अपहरण किया, कि हम भी अपनी स्वाधीनता से हाथ धो बैठे। नारी को हमने 'खिलौना' बनाया और हम दूसरों के खिलौने बन गये।

यह सब हमारे विधानों का प्राकृतिक प्रतिविधान है। इसमें न कोई अश्चर्य की बात है और न अस्वाभाविक ही।

अब हम लोगों में से बहुत से इस तथ्य को समझने से लगे हैं। नारी जाति भी जैसे जागृत हो गई है। उसकी मूर्छा भंग हो रही है। बीसवीं शताब्दी के विद्युत्व प्रकाश में वह अपना रूप देखने का प्रयत्न कर रहीं हैं। वह उठ कर दुनिया के साथ दौड़ना चाहती है। दुनिया जिस ओर जा रही है, उसी ओर वह बढ़ना चाहती है। पर क्या यह भयकर नहीं है ? दुनिया विनाश की ओर अग्रसर हो रही है और नारी जाति बिना कुछ सोचे-समझे अन्धाधुन्ध उसी का अनुसरण कर रही है।

हम चाहते हैं, नारी जाति अपना मुंह फेर ले, पीछे की ओर और दुनिया को अपने पीछे-पीछे चलने का आदेश दे। जहां वह स्वर्णमय अतीत है, हमारी यात्रा वहा पूरी हो और फिर नये सिरे से ससार का निर्माण हो। उस ससार में आज की उच्छृङ्खलता के स्थान पर स्वतन्त्रता विराजमान हो। वहा अधिकारों के लिए संघर्ष हो, पर

अनुक्रमणिका

यह महासतियां अपने जीवन के अन्त में गृहस्थावस्था की झंझटों से छुट्टी पाकर दीक्षा ग्रहण करती हैं और परम निश्रेयस की प्राप्ति के लिए कठोर साधना में अपनी जीवन उत्सर्ग कर देती है। इसके दो कारण हैं—

(१) प्रस्तुत पुस्तक से ऐसी ही नारियों का चरित्र चित्रित किया गया है जिन्होंने अन्त में दीक्षा ग्रहण की थी। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि स्त्रियों का स्थान घर में नहीं है।

(२) दूसरे आर्यावर्त्त हैं प्राचीन परिपाटी ही ऐसी थी, कि गृहस्थावस्था में लौकिक कर्त्तव्यों को पूर्ण कर चुकने के पश्चात् प्राय. क्या पुरुष और क्या स्त्रिया सभी पारलौकिक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देते थे। आगामी जीवन को सुधारने का कार्य इसी जीवन से आरंभ कर देते थे। वह जीवन एक प्रकार से सार्वजनिक जीवन था। क्योंकि उसमें कुटुम्ब और जाती-पांति का कुछ भी सम्बन्ध न होकर सारे ससार के साथ नाता जोड़ा जाता था। वह जीवन दूसरी दृष्टि से सर्वथा वैयक्तिक जीवन भी था। क्योंकि उसमें रहकर जो कुछ भी साधना की जाती थी। वह दूसरों के लिए नहीं वरन् केवल आत्म कल्याण की प्रबल भावना से की जाती थी। यहा तक कि धर्मोपदेश भी आत्म कल्याण का साधन था।

सर्वसाधारण के समक्ष मंगलमूर्ति महासतियों के महिमामय जीवन वृत्तान्तों को उपस्थित करने का मुनि श्री ने जो प्रयत्न किया है, उसके लिए वे सभी के धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री जैन गुरुकुल,
(ब्यावर)

विनीत
शोभाचन्द्र, भारिल्ल न्यायतीर्थ

प्रार्थना कुछ और ही रूप में करता है। उसकी मानसिक कल्पना विकारों से लिप्त रहती है और बाहर से वह अविकारी तत्त्व की प्रार्थना करता है। मन के अन्दर तो मलिनता का पर्दा पडा हुआ है—अपने स्वरूप मे भी वह बेभान है, किन्तु बाहर से फोनोग्राफ की चूडी की तरह प्रभु के गुणगान करता है। इस प्रकार उसके जीवन मे आज दोहरापन समाया हुआ है।

आज के ऐसे अधार्मिक जीवन को देखते हुए भी सिद्ध प्रभु यही सोचते हैं कि मैंने अपनी शरीरी अवस्था मे जो कल्याण-मार्ग उपदेशो द्वारा दिखाया है, वही मानव के कल्याण के लिये पर्याप्त है। मैंने तो अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया तथा चतुर्विध सघ को सारे निर्देश दे दिये। अब उनका पालन किया जाता है या नही किया जाता है, इसका दायित्व मेरे ऊपर नही है, क्योकि मैंने तो ससार के साथ सारे सम्बन्धो का विच्छेद कर लिया है। यही कारण है कि प्रार्थना के द्वारा हमे प्रभु के निर्लिप्त स्वरूप से प्रेरणा लेनी है किन्तु यह नही सोचना है कि उस से प्रभु हमारे विकास का काय स्वय कर लेगे।

स्वयं अपनी आत्मा को सवारना होगा :

अपनी आत्मा की मलिनता धोने तथा उसको सवारने का काम तो स्वय को करना होगा। सिद्धात्मा ने तो अपनी सशरीरी अवस्था मे आत्मोन्नति के जो सकेत दे दिये, वे शास्त्रो मे सुरक्षित है। उनका जो व्यक्ति पालन करता है तथा परमात्म-स्वरूप को आदर्श मानता हुआ चलता है, वही अपनी आत्मा का चरम विकास भी साध सकता है। यदि कोई इन सकेतो को नही माने और अपने मन की उद्दाम इच्छा के अनुसार चले तो वह ससार रूपी अटवी मे भटक जायगा। तब वह विकाररूपी भयानक जन्तुओ का शिकार बनता हुआ अपार कष्ट का अनुभव करेगा। परमात्मा ने मनुष्य-शरीर मे रहते हुए जो विकास का मार्ग बताया है, उसके अनुरूप यदि मानव चलने की तैयारी करले और अपने कार्य कलापो को उस रूप मे ढाल ले तो वह अपने मन की गति को भी एकाग्र बना सकता है और अपनी आत्मा के मूल रूप को भी पवित्र कर सवार सकता है।

आत्म-साधना के पथ पर अपने चरण बढ़ाने के बाद यदि कोई इस प्रार्थना के कवि की तरह प्रभु के चरणो मे मन की शिकायत को रखता है तो वह एक दूसरी बात हो जाती है। तब परमात्मा से की जाने वाली शिकायत अपनी ही अन्तरात्मा मे गहरी उतरेगी, क्योकि वह शिकायत परमात्मा

अभिनन्दन

❋❋
❋

ब्राह्मी – चन्दनबालिका भगवती,
राजीमति—द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा,
सीता–सुभद्रा–शिवा ।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता,
चूला— प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि—सुन्दरी प्रतिदिनम्,
कुर्वन्तु वो मंगलम् ॥

ही प्यास बुझने से सबको समान रूप से शान्ति मिलती हैं। यही स्थिति गुणग्राहकता की होती है कि जो भी सद्गुणो को ग्रहण करता है, उसे शान्ति-लाभ होता है। सद्गुणो का ग्रहण जैसे एक के लिये शान्तिप्रद होता है वैसे ही यह सब के लिये भी शान्तिप्रद होता है।

इस दृष्टिकोण से अपने और सबके जीवन की अधार्मिकता को हटाने की प्रेरणा जागनी चाहिये। जहा तक शरीर-निर्वाह का प्रश्न है, वाह्य आवश्यकताए स्वय के लिये भी होती हैं तो स्वय के परिवार अथवा व्यापक दृष्टि से समाज, राष्ट्र आदि के लिये भी होती हैं। जब इन वाह्य आवश्यकताओ की भी पूर्ति नहीं होती है तो सभी ओर अशान्ति का अनुभव होता है। यह अशान्ति एक या दूसरे रूप मे अधार्मिकता को वढाती है। इस कारण इस सम्बन्ध मे व्यक्ति की जिम्मेदारिया अपने प्रति एव अपने परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति भी होती हैं। उन जिम्मेदारियो को भी यथास्थान समझना और निभाना पडता है। शरीर-रक्षण का पहला प्रश्न रोटी-रोजी जुटाना होता है और इस क्षेत्र मे भी कर्त्तव्य भावना की अपेक्षा रहती है। यदि इस क्षेत्र मे कर्त्तव्य, न्याय एव नीति का पूरा विचार रखा जाय तो यही क्षेत्र अपने अन्त-करण को माजने का साधन भी वन सकता है।

यह सही है कि रोटी-रोजी तक ही जीवन नही है किन्तु जीवन की शुरुआत रोटी-रोजी की आवश्यकता से ही होती है। जब इस आवश्यकता की पूर्ति मे न्याय और नीति नही रहते हैं तो अधार्मिकता की वढोतरी होती है तथा धार्मिकता का विकास रुक जाता है। किन्तु इसी क्षेत्र मे सबसे पहले अधार्मिकता को दूर करके यदि न्याय एवं समता के आधार पर व्यवस्था स्थापित हो जाती है तो सर्वांगीण रूप से धार्मिकता का विकास हो सकता है। फिर तो सासारिक जीवन मे जिन मानवीय सद्गुणो का विकास होगा, वे सद्गुण साधु-जीवन मे अत्युच्च स्वरूप को ग्रहण करते हुए आत्मा के उज्ज्वल स्वरूप को तेजी से देदीप्यमान वना सकेंगे।

कर्त्तव्य के दोनों पक्षों मे समन्वय :

सासारिक जीवन मे रहते हुए कर्त्तव्य के एक ही पक्ष को नही पकडना है कि वाह्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने से ही कर्त्तव्य की इतिश्री हो जायगी। इसी कर्त्तव्य का दूसरा पक्ष यह भी है कि आप अपने प्रति एव अपने परिवार समाज, राष्ट्र आदि के प्रति आन्तरिक जागरण के कर्त्तव्य को भी समझें। आपने रोटी-रोजी का अच्छा प्रबन्ध कर दिया व परिवार के

'महासती श्री ब्राह्मीजी'

आपने 'श्री ऋषभदेवजी' का नाम तो अवश्य ही सुना होगा। उन्होंने इस पुण्यभूमि भारतवर्ष की 'अयोध्यापुरी' में राज्य की नींव सबसे पहले डाली थी। हमारी चरितनायिका 'ब्राह्मी' उन्हीं-ऋषभदेवजी की पुत्री थीं। उनकी माता का नाम 'सुमङ्गला' तथा सबसे बडे भाई का नाम 'भरत' और छोटी बहिन का नाम 'सुन्दरी' था।

उस काल में प्रजा स्वतन्त्र थी। लोगों की प्रकृति बड़ी ही कोमल और उदार थी। उस समय की सबसे बडी सजा 'धिक्कार' मात्र कह देना था। जनता जगली-फल-फूल और मूल खाकर ही मस्त रहती थी। राज्य की नींव ही क्यों? संसार-भर में जो धर्म-नीति, व्यवहार-नीति और कला-कौशल हैं, इन सबका श्रीगणेश भी भगवान् श्री ऋषभदेवजी ने ही किया था। गृहस्थी की गाड़ी में 'नर' और 'नारी' ये ही दो पहिये होते हैं। इन दोनों अगों की समानता तथा पूर्णता पर ही गृहस्थी की गाडी सुख पूर्वक चल सकती है। यह बात ऋषभदेवजी को भली भाति मालूम थी। इसलिए उन्होंने नारियों की शिक्षा-दीक्षा का भी पर्याप्त प्रबन्ध किया था।

ब्राह्मी बनाम सरस्वती

ऋषभदेवजी ने ब्राह्मी को अठारह प्रकार की लिपियों और चौसठ प्रकार की कलाओं का पूरा-पूरा ज्ञान करा दिया था। यही कारण था, कि ब्राह्मी उस समय की परम विदुषी नारियों में से एक

धार्मिकता नैतिकता से प्रारम्भ होती है :

जीवन मे धार्मिकता का प्रारम्भ नैतिकता के आचरण से होता है। जहा जितनी अनैतिकता है, समझिये कि वहा उतनी ही अधार्मिकता है। इस कारण किसी भी स्तर पर जब नैतिकता का धरातल पुष्ट बना दिया जाता है तो वहो सही ज्ञान, विश्वास और आचरण सही तरीके से पनप सकते हैं। याद रखिये, यदि आपने अपनी नैतिकता के धरातल को पुष्ट बना दिया तो आपके लिये भौतिक पदार्थों का अभाव भी नही रहेगा। यह दूसरी बात है कि आत्म–जागृति की अवस्था मे भौतिक पदार्थो की प्राप्ति के प्रति भी आपका निरपेक्ष भाव बन जायगा। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने जीवन को नैतिक बनाकर चले तो वह अपने ज्ञान, विश्वास एव आचरण की त्रिधारा को पवित्रता से प्रवहमान रख सकता है।

यह समझने की बात है कि व्यक्ति की प्रामाणिकता और चरित्र–शीलता उसके लिये उसकी आर्थिक सम्पन्नता से भी बढ़कर शक्ति होते है। इस प्रकार की नैतिकता की शक्ति जिस परिवार के मुखिया मे जाग जाती है तो वह अपने कर्त्तव्य का सम्पूर्णत पालन करने मे सक्षम बन जाता है। परन्तु इस कर्त्तव्य भावना की जहा शून्यता है तो समझना चाहिये कि वहा न तो सम्यक् ज्ञान और श्रद्धा का अस्तित्व है तथा न ही वहा परमात्मा का नाम लेने की सच्ची वृत्ति है। नैतिकताहीन जीवन से न तो वह अपने आपको ही पहिचानता है और न ही परमात्मा की ज्ञान–शक्ति को समझ पाता है।

धार्मिकता नैतिकता से प्रारम्भ होती है तथा इस नैतिकता के धरातल पर यदि मनुष्य यह सकल्प कर ले कि उसे स्वय को, अपने परिवार, पडोसी को सर्वांगत सुखी बनाना है और कर्त्तव्य के दोनो पक्षो को उज्ज्वल करना है तो वह सद्गुणो का व्यापक प्रसार करने का पूर्ण प्रयत्न करेगा। इस प्रयत्न सब ओर धार्मिकता के सस्कारो का सचार होगा एव जीवन के समग्र विकास मार्ग निष्कटक बन सकेगा। चारो ओर सद्गुणो के प्रसार से सद्गुणो की मे वृद्धि होगी और एक नये वातावरण की सृष्टि होगी, जिसमे सामाजिक त की रूपरेखा स्पष्ट बन सकेगी। इस कार्य से व्यक्ति के कर्म–समूह का क्षयोपशम होगा। अन्तराय कर्म कई जन्मो से बधता रहता है और आत्मा को सुअवसरो एव शुभ उपलब्धियो से वचित करता रहता है, किन्तु सद्गुणो का अपने अनुपालन से प्रसार करने के कारण ऐसे अन्तराय कर्म का भी नाश होने लगता है और उसे ज्ञान एव आचरण के क्षेत्र मे नई प्राप्तियां मिलनी आरम्भ होती हैं।

यता के उपासक और पोपक बन गये। तब हमारा धर्म रहता भी तो कैसे ? क्योंकि जगत् में गुलामों का कोई धर्म और कर्म नहीं होता।

नारी शिक्षिता हो

यदि नारी-शिक्षा में किसी प्रकार का भी कोई दोप कभी होता, तो क्यों भगवान् ऋषभदेव स्वय अपनी पुत्री ब्राह्मी को पढा-लिखाकर पडिता बनाते ? नारी शिक्षा के विरोधियों को इस उदाहरण से बोध-पाठ सीखना चाहिये। परन्तु हा! आज की नारी-शिक्षा के हम भूल कर भी हामी नहीं, वरन् हम तो उनमें उस शिक्षा का प्रचार और प्रसार चाहते हैं, कि जिससे उनका मन उदार और संस्कृत हो जावे। उनकी बुद्धि का पूरा-पूरा विकास हो पावे और वे स्वावलम्बी बन सकें। यदि नारिया ऐसी हो गई, तो दुनिया की फिर कोई भी महान् शक्ति हमें दबा नहीं सकती। अत' यह सिद्ध हुआ, कि नारियों की सच्ची शिक्षा ही में राष्ट्र के जीवन उन्नति और सरक्षण के बीज छिपे रहते हैं। तब क्या हमें भी अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से इस ओर न जुट पडना चाहिए ?

ब्राह्मी की दीक्षा

समय आया ऋषभदेवजी ने दीक्षा धारण कर भू-मण्डल पर विहार किया। तप और संयम के द्वारा उन्होंने अपने सम्पूर्ण घन-घाती कर्मों का सर्व-नाश करके दिव्य 'कैवल्य-ज्ञान' प्राप्त किया। विचरण करते-करते वे एक बार उसी अयोध्यापुरी में पधारे। उनके पावन उपदेश को सुनने के लिए समी नगरवासी लोग गये। ब्राह्मी ने भी उसमें भाग लिया। उस उपदेश का असर उनके हृदय पर इतना गहरा पड़ा, कि वे भी दीक्षा लेने पर उतारू हो गईं। उनके

को रखने का अभिप्राय यह है कि अर्थ और काम की उपलब्धि में भी धर्म निर्देशक तत्त्व के रूप मे रहना चाहिये। इसका यह भी अर्थ है कि धर्म और ससार अलग अलग नही हैं, बल्कि ससार जिन अर्थ और काम के पुरुषार्थों से चलता है, उन पुरुषार्थों मे भी धर्म का पुरुषार्थ प्रधान होना चाहिये याने कि ससार का प्रत्येक क्रिया-कलाप धर्माधारित होना चाहिये। पहले जीवन को धर्म से याने कि कर्त्तव्य एव सद्गुणो से सजा लो, फिर अर्थ और काम की उपलब्धि के लिये प्रयास करो तो ऐसे प्रयास मे विकृति नही आएगी, कर्त्तव्य बुद्धि प्रमुख बनी रहेगी, जिससे मोक्ष की उपलब्धि दुर्लभ नही बनेगी।

धार्मिकता के सस्कार कब भरें :

जीवन मे कर्त्तव्यमूलक धार्मिकता के सस्कार कब भरे जाने चाहिये? जैसे चारो पुरुषार्थों मे पहला पुरुषार्थ धर्म है, उसी प्रकार जीवन का आरम्भ भी धर्म से किया जाना चाहिये। धार्मिक सस्कारो का श्रीगणेश बाल्यावस्था से ही होना आवश्यक है। ज्ञान, दर्शन एव आचरण की सम्यक् शिक्षा जब बचपन से ही दी जाती है तो वे सस्कार जम कर सारे जीवनपर्यन्त अमिट बने रहते है। बाल्यकाल मे ही जब धर्म को धारण कर लिया जाता है तो तरुणाई मे अर्थ और काम का दौर-दौरा होने पर भी उसमे फिसल जाने या लिप्त हो जाने का अवसर नही रहता है और वृद्धावस्था मे आत्मशुद्धि की ओर सचोट गति होने लगती है। उसका जीवन आदि से अन्त तक धर्म से ओत-प्रोत रहता है।

ऐसे व्यक्ति के जीवन मे धार्मिकता का सबसे बडा मूल्याकन हो जाता है। वह व्यापार करता है और अर्जन करता है तो धर्म की पुष्टि के लिये एव काम के क्षेत्र मे घुसता है तो उस समय भी धर्म की भावना को सर्वोच्च रखता है। इस तरह वह अर्थ और काम को ग्रहण करने मे भी धर्म को पहले रखेगा तथा अपनी गति मे सदा मोक्ष के समीप पहुचता रहेगा। इस तरह धर्म मोक्ष का मूल है तो मोक्ष धर्म का सर्वश्रेष्ठ फल। धर्म गृहस्थ अवस्था से सिद्धावस्था को जोडता है। चारो पुरुषार्थों को जोडकर चलने वाला गृहस्थ अपने जीवन मे उदर-पोषण भी करता है, वस्त्र निवासादि की सुविधाए भी जुटाता है और विवाह-शादी भी करता है, किन्तु वह प्रतिक्षण धर्म के सस्कारो से ओतप्रोत रहता है और ससार के सब कार्य करता हुआ भी धार्मिकता मे केन्द्रस्थ रहता है। यह अवस्था तभी बनी रह सकती है, जब बचपन मे ही धर्म के सस्कार सुदृढता से भरे गये हो।

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए ।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्म न बन्धइ ॥"

अर्थात् यत्न-पूर्वक चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना और बोलने ही को अपने जीवन का आदर्श बना लिया । भगवान् की इस शिक्षा का वे आजीवन पूरा-पूरा पालन करती-कराती रहीं।

महाभागे ! धन्य ! आप जैसी महासतियों की प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज, और काल को पूरी-पूरी आवश्यकता है । वह देश, वह समाज और वह काल सचमुच में बडा ही भाग्यशाली है, जिसमें आप जैसी महिला-रत्न जीवन और जन्म धारण करती हैं ।

अभ्यास के लिए प्रश्न:—

[१] भगवान् ऋषभदेवजी ने नारियों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध क्यों किया था ?

[२] ब्राह्मी की विद्वता और कार्यों का वर्णन थोड़े में करो ।

[३] सिद्ध करो "नारी-शिक्षा ही राष्ट्र की उन्नति, जीवन और संरक्षा का मूल-मन्त्र है ।"

[४] नारियों की शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए ?

[५] ब्राह्मी और आज की नारियों के आदर्श में क्या अंतर है ? थोडे में समझाओ ।
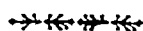
मात्र के लिये धार्मिकता का ऐसा अमृत-पेय है कि इसे जो भी पीएगा और धार्मिकता को अपने जीवन मे सब प्रकार से केन्द्रस्थ बना लेगा, वह अपने जीवन को उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरूढ कर सकेगा । यही नही, वह अपने जीवन की उन्नति के साथ परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के धरातल को भी अपने आदर्श जीवन से पवित्र बना सकेगा । धार्मिकता को जीवन का मर्म मानकर चलना चाहिये ।

आज जीवन के मर्म से ही भूल :

वर्तमान जीवन मे यदि चारो ओर दृष्टि फैलाई जाय तो प्रतीत होगा कि आज मानव प्राय इस जीवन के मर्म को ही भूला हुआ है । मैं स्पष्ट रूप से कहूगा कि धार्मिकता को भूल कर मनुष्य आज न जाने किन-किन रूपो मे चल रहे है तथा अपने जीवन को बेभान होकर अधार्मिकता एव विकार वृत्तियो से रग रहे हैं । यह जीवन के मर्म मे ही भूल है । भले ही लोग विद्वत्ता की दृष्टि से आज बडी-बडी डिग्रियो के धारक हो, ऊची नेतागिरी करते हो या समाज व राष्ट्र के सचालक पदो पर बैठे हुए हो, किन्तु उनके जीवन मे धार्मिकता एव नैतिकता के मूल धरातल का ही अभाव दिखाई देता है । फिर कैसे कल्पना की जाय कि ऐसे लोग भी अपने और दूसरो के जीवन का स्वस्थ निर्माण कर सकेगे ? जहा नैतिकता नही, वहा भ्रष्टता होती है और जहा धार्मिकता नही, वहा विकार-वृत्ति जीवन को घेरे रखती है । भ्रष्टाचार और विकार एक से दूसरे जीवन मे पतन के कीटाणु फैलाते ही रहते हैं और आज की अधार्मिकता का यही मूल कारण है ।

आज का यह अधार्मिक जीवन इस कारण स्वय का ही पतन नही करता, वल्कि उस पतन को अपने से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के दूर तक के छोरो मे भी फैलाता है । नैतिकता जीवन मे नही आती तो सद्गुणो का प्रवेश नही होता और धार्मिकता नही फैलती । अधार्मिक व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये अपने पडौसी को सताता है, अन्याय और अनीति से अपना काम चलाता है तथा काले कुकृत्यो से सब ओर कालापन बिखेरता है । आज मानव का जीवन इतना अनैतिक बन गया है कि मनुष्य को मनुष्य के नाम से पुकारना भी अपराध समझा जा सकता है । चारो ओर अनीति और अन्याय का एक तीव्र हाहाकार मचा हुआ है । जीवन मे सन्तोष और शान्ति के दर्शन कठिनता से ही होते है ।

उन्होंने उस काम से उन्हे रोक दिया। भरतजी तो तब वहीं से छहों खण्डों को विजय करने के लिए चल पडे और अपनी मनोभिलाषा को सफल न होती देख श्रीमती सुन्दरीजी तप-साधना में सलग्न हो गई। थोड़े ही समय में उन्होंने ऐसे उग्र तप की साधना की, कि उनके शरीर का सारा लोहू और मास सूख गया। उनका शरीर अस्थि-पजर मात्र रह गया।

विश्व-विजयी का समाधान

कुछ काल के पश्चात् छहों खण्डों में विजय का शंख-नाद फूंकते हुए चक्रवर्ती भरतजी अपनी राजधानी में आये। वहां आने पर उन्होंने अपनी बहिन को महान् दुर्बल, कृश और निस्तेज पाया। तब तो वे अपने परिजन और कर्मचारियों पर बड़े ही आगबबूला हो गये।

वे कडक कर बोले—

"वह कौन है ? जो अपने सिर को धड़ से अलग देखना चाहता है और जिसने सुन्दरी जी को इतना प्राण-हरण कष्ट दिया है ? और तो और इनके खान-पान तक का पूरा प्रबन्ध तुम लोगों ने नहीं किया ? यदि यह न होता, तो ये सूख कर काटा बनती ही क्यों ? जान पडता है, किसी सेवक ने इनकी आज्ञा को ठुकरा दिया है। नहीं तो सभी प्रकार के सासारिक-वैभव के रहते हुए इनके शरीर की यह दुर्दशा क्यों हो पाती ?"

इस पर सभी परिजन और कर्मचारी लोग भयभीत होकर गिड़गिडाते हुए बोले-

"महाराज ! न तो इनके खान-पान ही का प्रबन्ध अधूरा रहा है और न किसी सेवक ही ने इनकी किसी आज्ञा का कभी उल्लघन किया है। परन्तु जिस दिन से आप छहों खण्डों को विजय करने के

मिलावट घोर अधार्मिकता है :

वस्तुओ मे मेल-सभेल करना और मिलावट करना घोर अधार्मिकता है, क्योकि एक व्यक्ति छुरा मारकर किसी की हत्या कर डालता है, वह तो अधम है ही, किन्तु जो मिलावट के जरिये अनेको के कठ पर अप्रत्यक्ष रूप से छुरा फेरता जाता है, उसकी अधमता का क्या कहना ! मिलावट करने वाले लोग अनेक प्राणियो को जहर पिलाते रहते हैं । उन व्यक्तियो की धर्म मे तो कोई स्थिति है ही नही, किन्तु अधर्म मे भी उनकी अधमाधम स्थिति होती है। आज किस वस्तु मे मिलावट नही की जाती है—खाद्य पदार्थों मे मिलावट तो औषधियो तक मे मिलावट ! और इसका कितना कुप्रभाव जन-स्वास्थ्य पर पड रहा है व कितनी अज्ञात हत्याए रात-दिन हो रही हैं—यह विचारणीय स्थिति है ।

मिलावट की इस घोर अधार्मिकता का कारण है अर्थोपार्जन के लिये पागलपन । समझिये कि यह धन सदा जिन्दगी मे काम आने वाला नही है । आज नीति-अनीति से पैसा इकट्ठा कर लिया तो कल सरकार या जनता की तरफ से उसकी क्या दशा बनेगी—इसका कोई पता नही है । पैसे के ऐसे पागलपन मे आप बुजुर्ग तो बहे सो बहे, किन्तु नई पीढी को भी क्यो बिगाड रहे हैं ? बच्चे जब देखते है कि मिलावट जैसा कुकर्म करके पिताजी पैसा कमा रहे हैं तो सोचिये कि उन पर कैसे सस्कार पडेंगे ? आज पैसा कमाने को ही देखा जा रहा है—कमाने की रीति-कुरीति की ओर ध्यान नही है—यह दयनीय मनोदशा है । व्यापार और व्यवसाय की ऐसी हालत हो रही है जिसमे प्रत्येक दूसरे को धोखा देकर ठग लेने मे अपनी सिद्धहस्तता समझता है। नीति और श्रम से अर्थोपार्जन की वृत्ति जैसे लुप्त होती जा रही है । इसी विकृत मनोदशा का परिणाम है कि मिलावट जैसा कुकृत्य चारो ओर फैल गया है । लोग इस कुकृत्य को धडल्ले से करते हैं, और शर्म भी नही खाते । जिस समाज या राष्ट्र मे ऐसी घोर अधार्मिकता एव अनैतिकता बिना हिचकिचाहट के चल रही हो, वहा कैसे कल्पना की जाय कि नैतिकता और धार्मिकता का सरलता से प्रसार हो सकेगा । इसके लिये प्रबुद्ध वर्ग को कठिन कार्य करना होगा एव जीवन को धर्म से सजाना पडेगा ।

जीवन को धर्म से सजाइये :

अनैतिकता के इस मगरमच्छी न्याय मे दुर्बल और दीन पिसता है तथा अधार्मिकता का घोर अन्धकार फैलता है । इसमे धर्म का प्रकाश फैलाना

था। उन दिनों उनके बडे भाई 'बाहुबली' तक्षशिला में राज्य कर रहे थे। भरतजी का यह कार्य कम से कम बाहुबली को उनके अपने राज्य के लिए तो बडा ही अखरा। विजय-लाभ कर लेने पर उन्हें अपने छोटे भाई की आधीनता में रहकर जीवन बिताना तो जरा भी न भाया। दल-बल साज कर अपने आक्रमणकारी भरतजी पर क्रोधित होकर वे रणांगण में उतर पडे। चक्रवर्ती भरत-जी ससैन्य वहा पहले से डटे थे ही। दोनों ओर की सेनाओं की मुठ-भेड होने ही वाली थी, कि इतने ही में इन्द्र वहां आ पहुचे। वे बोले—

"अरे! अभी-अभी भगवान् ने प्रजा के सुख और समृद्धि के लिए कुछ भी उठा कर बाकी न रक्खा था और उन्हीं के तुम पुत्र कहलाकर प्राणियों के रक्तपात के लिए यूं छटपटा रहे हो? क्या तुम्हें अपने पूजनीय पिताजी के जगत् व्यापी गौरव की रक्षा का कोई भान और अभिमान नहीं है? लडाई तो तुम दो भाइयों के बीच की है और इस का असर रक्तपात के रुप में अकारण ही गिरेगा बेचारी निरपराध प्रजा के ऊपर। यह कौन-सी बुद्धि-मानी है? यदि तुम्हें युद्ध ही प्यारा है, तो क्यों नहीं तुम दोनों ही परस्पर लड़-भिड लेते हो?"

इन्द्र द्वारा युद्ध-निवृत्ति

इन्द्र के इस सत्परामर्श को सुन और निरपराध प्रजा के अकारण सर्व-नाश का अनुभव करके उन्होंने उस युद्ध को तो वहीं बन्द कर दिया और साथ ही साथ परस्पर के युद्ध की बात पर निश्चय ठाना। तब अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने दृष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध, भुजा-युद्ध और मुष्टि-युद्ध करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ के तीन युद्धों मे तो दोनों सब प्रकार से समान ही रहे। परन्तु जब

सर्व-त्याग की साधना में

"धम्मो मगलमुविकट्ठ', श्रहिंसा सजमो तवो...."

सर्वत्याग की साधना मे जीवनशुद्धि के लिये यह बडी दीक्षा का प्रसग है। ससार की अवस्था मे रहती हुई आत्मा आध्यात्मिक जीवन की सपूर्ण साधना नही कर सकती है। गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह की दृष्टि से कुछ न कुछ कार्य करना ही पडता है तथा उस कार्य मे लाचारी से जीवो का उपमर्दन होता है। इस प्रकार हिंसा-पापादि के कार्यों मे उलझते हुए उसका काफी समय व्यतीत हो जाता है। फिर यदि वह आध्यात्मिक साधना करना भी चाहे तो उसमे उस हेतु पर्याप्त शक्ति नही बचती है।

आन्तरिक जीवन की जागृति के लिये भी मन, मस्तिष्क और शरीर के नियोजन की आवश्यकता होती है। शारीरिक शक्ति की अपेक्षा भी मन और मस्तिष्क की ताजगी की ज्यादा जरूरत होती है। यह शारीरिक शक्ति भले ही थके या नही थके, परन्तु मन-मस्तिष्क की स्थिति यदि थकान का न्. व करती है तो आध्यात्मिक साधना मे शक्ति अधिक नही लग सकती है। सारी शक्तिया जब अर्थोपार्जन के कार्यों मे खर्च हो जाती है तो प्राकृतिक से उनकी पूर्ति के लिये शरीर विश्राम चाहता है। यही कारण है कि सात- घण्टे श्रम करने के बाद शरीर को विश्राम की आवश्यकता होती है। श्रम शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक-सभी प्रकार के श्रम आ जाते हैं। गृहस्थ जीवन की ऐसी व्यस्तता मे कोई घण्टे भर मुश्किल से ही बैठकर गूढ चिंतन कर पाता है। वैसी थकान की दशा मे उसे या तो नीद आने लगती है अथवा आलस्य होता है। अत आध्यात्मिक साधना मे लगने के लिये गृहस्थ अवस्था सक्षम और उपयुक्त नही होती है। जिन आत्माओ के अन्दर से यह जागृति आ जाए कि मुझे तो इस मनुष्य तन के रहते हुए अधिकाधिक

नाता तोड कर्म शत्रुओं से मुठ-भेड करने के लिए कमर कसी । उन्होंने उसी क्षण सब के देखते ही देखते अपने ही हाथों से अपने सिर के बालों का लुचन कर डाला और राज पद, राजसी वस्त्र, तथा राज्य को लात मार कर साधु बन गये । फिर भी छोटे-बडे के भेद-भाव से उनका अन्त करण दूषित हो रहा था। अभी भी उनके दिल में इस बात का अभिमान था कि—

"भगवान के पास जितने भी मेरे छोटे भाइयों ने दीक्षा ली है, वे दीक्षा में बडे मुझ से भले ही हों। परन्तु उम्र में तो वे मुझ से सदा छोटे ही हैं और रहेगें। तब मैं उन्हें वन्दना क्यों और कैसे कर सकता हू ?"

बस ! इसी अभिमान के कारण वे भगवान् के दर्शन तक को भी न गये। उन्होंने सोचा कि "यदि मैं भगवान् के दर्शनार्थ गया तो उनके साथ के छोडे-बडे सभी शिष्यों को वन्दना करनी पडेगी।" अत यह सोच कर वे वहीं ध्यानस्थ खडे हो गये।

आदि-युग के अचल ध्यान-योगी

वे अपने ध्यान-योग में इतने अचल और दृढ़-रूप से निरत हुए कि उन्हे अपने शरीर तक का भान न रहा। मक्खियों, मच्छरों, और डासों ने उनके शरीर को डक मार-मार कर लोहू-लुहान कर दिया। परिन्दों ने उनके कन्धों पर अपने घोंसले बना लिये। उनके शरीर का आश्रय लेकर लताए उनके चारों ओर लिपट गई। वे अपने ध्यान के रंग में इतने मस्त थे कि इन क्षुद्र प्राणियों की ओर से निरन्तर दी जाने वाली त्रास तक का उन्हें कोई भान भी न हुआ।

तब तो भगवान् ने साध्वी ब्राह्मीजी तथा साध्वी सुन्दरीजी से कहा, कि—

के सभी बन्धन तोड देने होते हैं और सम्पूर्णत' समता धारण कर लेनी पडती है। यह मार्ग साधु जीवन का है जिसके ग्रहण के साथ ही राग–भाव छूटता है और निर्ग्रन्थ वृत्ति आरम्भ होती है। इस जीवन मे सर्वथा परिग्रह और परिग्रह की मूर्छा भी त्याग देनी होती है। जो भी वस्तु इस अवस्था मे रखी जाती है, वह सीमित एव मर्यादित मात्रा मे होती है। वस्त्र की दृष्टि से कुल एक हाथ के पन्ने का ७२ हाथ लम्बा वस्त्र ही एक साधु को रख सकने का विधान है। साध्वी ९६ हाथ लम्बा वस्त्र रख सकती है। फिर कितना ही तेज शीत हो या वर्षाकाल इतने ही वस्त्र मे काम चलाना पडता है। यह कितनी कठोरतम तपस्या है! इसी प्रकार की मर्यादा का पग–पग पर पालन करना पडता है, तब साधु जीवन का निर्वाह होता है।

इन वहिनो ने सात दिन पहले सेठिया भवन, बीकानेर मे अपने परिवार की अनुमति एव सघ की सहमति से भागवती दीक्षा अगीकार की थी एव वीतराग प्रभु के निराले मार्ग पर अपने चरण रखे थे, वे चरण आज वडी दीक्षा के रूप मे परिपुष्ट हो रहे है। छोटे परिवार को छोडकर ये अब विश्व-परिवार की सदस्याए बन गई हैं। इस विशाल सघ मे प्रवेश लेकर ये विपम भाव से हटकर समभाव की आराधिकाए हो गई हैं। ये सबके कल्याण हेतु आध्यात्मिक साधना मे तत्पर बन गई है। ससार के छोटे बडे समस्त जीवो के प्रति संरक्षण की भावना रखते हुए अपने जीवन को सकोच करके चलने का प्रण इन्होंने लिया है और सारे सावद्य पापकारी कार्यों का त्याग कर दिया है। छोटी और वडी दीक्षा का मतलव यही है कि यह सात रोज का अन्तरिम काल सयम के सकल्पो की परिपुष्टि को देखने हेतु रखा गया है। जिन निर्लिप्त भावनाओ के साथ दीक्षा ग्रहण की, वे परिपक्व है या नही। परिपक्व चारित्र्य ग्रहण करने की दृष्टि से वडी दीक्षा का प्रसग है।

परिपक्व चारित्र्य का तात्पर्य :

परिपक्व चारित्र्य का यह तात्पर्य होता है कि प्रारम्भ मे साधुजीवन मे प्रविष्ठ होते समय पूर्वाभ्यास के कारण छोटी–मोटी त्रुटिया हो सकती हैं उन त्रुटियो का परिमार्जन करके चारित्र्य को जो परिपक्व स्वरूप दिया जाता है, वही वडी दीक्षा का प्रसग है। छोटी और वडी दीक्षा का अल्पतम अन्तर सात दिन, मध्यम दृष्टि मे चार माह तथा अधिकतम छ माह होता है। यह छेदोपस्थापनीय चारित्र्य दिया जाता है। इस अन्तरिम काल मे कोई दोष लगा हो अथवा नहीं लगा हो तो यह काल अपरिपक्वता की दृष्टि से दीक्षा काल मे से घटा दिया जाता है। आज से ही इन वहिनो की दीक्षा पक्की

समझ कर खूब ही काटा और खाया । फिर भी आप तो इतने क्षमा-शील निकले कि इन सारे के सारे दुःखों की कोई परवाह तक न की । मुँह से उफ तक न निकाली ।

किन्तु भाई ! हमें बड़ा खेद है, कि आप अपनी इस पकी-पकाई खेती को मटियामेट करने के लिए अभिमान के महा-मदान्ध हाथी पर क्यों और कैसे चढ़ बैठे ?"

बाहुबली का सत्य चिंतन

अपनी बहिनों के इस सन्देश को सुन कर बाहुबलीजी चौंक पडे । वे मन-ही मन कहने लगे कि—

"क्या इस समय मैं सचमुच ही हाथी पर चढा बैठा हूँ ? अरे ! हाथी, घोडे, राज्य, परिजन, और पुरजन सभी को तो मैंने छोड दिया और मैं उस पर बैठा कब तथा कहां ? अहो ! अब समझ में आया । ब्राह्मी तथा सुन्दरीजी जो भी कह रही हैं, बिलकुल यथार्थ है । मैं अभिमान-रूपी हाथी पर चढे बैठा हूँ । मुझ जैसे अभिमानी को धिक्कार ! सैकडों बार धिक्कार ! साधु बन जाने पर भी अभी तक अभिमानी बना ही रहा ? यह तो साधुत्व के लिए कलक की बात है । साधुओं के लिए यह सब प्रकार से त्याज्य है । आत्मोन्नति के मार्ग में यह उसी समुद्री चट्टान के सदृश घातक और हानिकर है, जो दिखती तो नहीं किन्तु बडे से बड़े जहाज को बात की बात में तहस-नहस कर सकने की सामर्थ्य रखती है । आत्मोन्नति के चाहने वालों को तो इससे सदा-सर्वदा दूर ही रहना उचित है ।.... अतएव मैं जाऊँ, इस अभिमान रूपी हाथी से उतर कर चलूं और उन सभी मुनियों को विधिवत् वन्दना करूं । इतना करने पर ही मैं अपने ध्यान, तप, संयम, और शील-पालन में पूरा-पूरा सफल हो सकूंगा ।"

प्रथम अध्ययन में साधक को कुछ संकेत दिये गये हैं। वे प्रमुख रूप से इस प्रकार हैं—हे साधक, तू आज से जगत् के समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा के तुल्य समझकर चलना, छोटे बडे सभी प्राणियो का उपमर्दन मत करना—क्लेश मत पहुचाना और किसी कारण ऐसा हो जाय तो प्रायश्चित्त करना। विश्व के समस्त प्राणियो को एक परिवार के सदस्य समझना तथा उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार करना। मनुष्यो एव बडे प्राणियों का तो सरक्षण करना ही, किन्तु छोटे-छोटे प्राणियो की घात से भी बचना तथा उनकी भी रक्षा करना। यदि ऐसा नही हुआ तो तुम्हारी साधुता की वृत्ति नही रहेगी। सक्षेप मे अहिंसा का ऐसा विराट् रूप भगवान् महावीर ने दिखाया है।

अहिंसा के इस स्वरूप के प्रति कोई शका करे कि साधु फिर भोजन किस प्रकार ग्रहण करेगा ? आज के आज साधु बने और आज ही जीवन पर्यन्त सयम मे आरूढ होकर त्याग कर ले—यह साधु के लिये शक्य कैसे हो सकता है ? इससे तो यही ठीक है कि जब तक शरीर मे क्षमता है, तब तक ज्ञान दर्शन व चारित्र की आराधना करनी चाहिये। शरीर अक्षम हो जाय या सक्षम हो, तब भी सथारा कर लेना एक प्रकार मे आत्मघात है—ऐसी ऐसी शकाए कई लोग रखते हैं।

भगवान् महावीर ने आत्मघात के लिये कभी निर्देश नही दिया। जब तक साधक की आत्मा ठीक तरह से जागृत है और चिकित्सको का मत है कि अब शरीर ज्यादा वक्त तक नही टिकेगा तो सन्ताप-विलाप करने की बजाय सथारे के रूप मे ममता छोडकर स्वय शरीर को छोड दे तो वह भी त्याग का एक आदर्श रूप ही होगा। साधु के भोजन का जहा तक प्रश्न है, साधु को मधुकरी करने का निर्देश है। जैसे भवरा एक-एक फूल पर बैठता है और बिना किसी को तनिक भी कष्ट पहुचाए, वह सूक्ष्म पराग जिस प्रकार एक-एक फूल से ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधु एक-एक घर से इतनी सूक्ष्म भिक्षा ग्रहण करे, जो किसी भी रूप मे दाता को भारप्रद न हो तथा दोषयुक्त भिक्षा भी वह न लेवे। साधु इस प्रकार न स्वय भोजन बनाता है, न दूसरो से अपने लिये भोजन बनवाता है तथा न ही अपने लिये भोजन बनाने वालो को अच्छा समझता है। गृहस्थ अपने नित्य-क्रम मे जैसा भी भोजन बनाते हैं साधु तो अतिथि के रूप मे वहा पहुचता है तथा मधुकर की तरह अत्यल्प ग्रहण करता है। साधु की भिक्षा को इसीलिये गोचरी भी कहते हैं कि जैसे गाय ऊपर-ऊपर से थोडा-थोड़ा घास चरती है, वैसे ही ग्रहस्थ को कतई कष्ट

अभ्यास के लिये प्रश्नः—

[१] गणित शास्त्र की उपयोगिता के कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण दो ।

[२] सिद्ध करो, "अभिमान आत्मोन्नति के मार्ग में बड़ा भारी रोड़ा है।

[३] श्रीमती सुन्दरीजी के जीवन से बताओ कि "मनुष्य की शुद्ध भावनाएं एक न एक दिन अवश्यमेव फूलती और फलती हैं।"

[४] इन्द्र और बाहुबली के संवाद से हमें कौनसी शिक्षा मिलती है ?

[५] दृष्टि युद्ध और वाक् युद्ध को थोडे में समझा कर उनकी विशेषताएं प्रकट करो ।

[६] ब्राह्मी और सुन्दरीजी के द्वारा जो सन्देश भगवान् ऋषभदेवजी ने बाहुबली के पास भेजा, उसे कंठाग्र करलो ।

स्वातंत्र्य प्राप्त करते-करते,
स्वच्छन्द नहीं बन जाना तुम ।
शुद्ध-प्रेम के पाते ही,
कहीं मोह में मत फंस जाना तुम ॥

—गुरुदेव श्री जैन दिवाकरजी म०

है। साधु को अपने लिये बना हुआ आहार तो लेना ही नही है, परंतु कदाचित् किसी गृहस्थ ने मोहवश या अज्ञानतावश जिस साधु के लिये आहार बनाया हो तो ज्ञात हो जाने पर वह साधु उसे कतई ग्रहण न करे। यदि उस आहार को दूसरा साधु ग्रहण करता है तो वह उद्देशक आहार होता है और अनाचार रूप होता है। अत अन्य साधु को भी वैसा आहार ग्रहण नही करना चाहिये। साधु के लिये कोई खरीद कर दिलाता है तो वैसा आहार भी ग्राह्य नही होता है। साधु नित्यपिंड भी नही करे अर्थात् किसी एक ही गृहस्थ के यहां से नित्यप्रति भिक्षा नही लावे—साधु के लिये नियत आहार भी नही लावे। दिन मे भी एक के यहा से एक वक्त ही आहार लावे। कोई गली निकालकर भी गृहस्थ प्रतिदिन भिक्षा देना चाहे, तब भी साधु नित्यपिंड नही लावे। सामने लाया हुआ भोजन भी साधु को नही लेना चाहिये। वर्षा की झडी लग रही है और भिक्षा कोई धर्मस्थान पर ही ले आवे तो साधु उसे ग्रहण नही करे। वर्षा मे साधु भिक्षा के लिये बाहर नही जा सकता है, हा प्राकृतिक शका दूर करने के लिये अवश्य जा सकता है। इसका कारण यह है कि जीवरक्षा में यदि भूखा भी रहना पडे तो उससे सयम मे कोई बाधा नही आएगी।

भोजन आदि की कठिन मर्यादाएं क्यो ?

साधु के लिये भोजन की कठिन मर्यादाए उसके सयम सरक्षण के लिये अनुकूल हैं क्योंकि साधु खाने के लिये नही जीता, बल्कि जीने के लिये खाता है, वह भी सीमित मात्रा मे और दोषरहित प्राप्त भिक्षा से ही। जो स्वाद जीत लेता है, वह तज्जन्य कई विकारो को भी जीत लेता है। स्वाद छोडा, लोलुपता छोड दी तो फिर भोजन शरीर–रक्षा का क्षीण साधन मात्र ही रह जायगा।

इसी दृष्टि से विधान है कि साधु दया के निमित्त से भी श्रावको द्वारा सामने लाया हुआ आहार ग्रहण नही करे। यह तो ठीक, मगर साधु गृहस्थ के द्वार पर भी पहुच गया और गृहस्थ रसोई घर से भोजन लाकर वहा पर भी देवे तब भी वह सामने लाया हुआ भोजन माना जायगा। ऐसा नही ग्रहण करने का एक सूक्ष्म दृष्टिकोण है। जहा भोजन स्वाभाविक रूप से रहता है और साधु वही पहुचकर भिक्षा ग्रहण करता है तो सब कुछ उसकी दृष्टि मे रहता है कि कही सचित्त का सघट्टा तो नही है अथवा अन्य कोई दोष तो नही लग रहा है, परन्तु आहार सामने लाने पर यह सब नही देखा जा सकेगा तो साधु का छ काया के प्रतिपालक का धर्म दोपयुक्त बन जायगा।

न सही, ससार की अन्य सभी नारियां तो निमन्त्रण दे-देकर और समादर कर करके मुझे अपने यहा बुलाती हैं। यही कारण था कि कौशल्या के पतिदेव का परिवार बड़ा भारी होते हुए भी वहां एक ही चूल्हा और एक ही चौका था।

'चहत उडावन फूंकि पहारा'

परन्तु आज की हवा तो कुछ निराली ही है। इस युग की माताएं और बहिनें अपने पतिदेव के घर में घुसने ही एक के दो और दो के चार चूल्हे वना देने की आयोजना को काम में ला वैठती हैं। मानों यह प्रथा उन्हें मायके से दहेज ही में मिली होती है।

इसके विपरीत दशरथजी के परिवार की सभी महिलाएं जैसे पानी और रग घुल-मिल कर रहते हैं, ठीक वैसे ही प्रेम पूर्वक रहती थीं। फूट ने कई वार उनके परिवार में अपना पैर फसा देना चाहा। परन्तु उसका वह सारा सिर तोड परिश्रम 'चहत उडावन फूकि पहारा' अर्थात् फूंक से पहाड को उडा देने के सदृश विल्कुल वेकार सिद्ध हुआ। यही कारण था कि दशरथ का आदर्श परिवार, उनके अपने सारे राज्य के लिये भी आदर्शवाद का एक जीता जागता नमूना वन गया था। जिससे उनका सारा राज्य ही धन और जन ख और शान्ति से सम्पन्न हो गया था।

'जहं सम्प तहं सम्पति नाना'

जहा सम्प या पारिस्परिक प्रेम-भाव का आदर्श जीवन होता है, वहीं सुख और सम्पत्ति खूब ही फलती-फूलती और चिरकाल के लिये उसी को अपना निवास-स्थान बनाती है। किसी ने ठीक ही कहा है, कि 'सम्प' सम्पत्ति का पति है और 'सम्पत्ति' है उसकी पतिव्रता पत्नी। पतिव्रता नारिया कभी अपने पति को छोड कर अन्यत्र नहीं रहतीं। यदि दैववशात् कहीं कुछेक काल के लिए उसे अकेला

कराना चाहिये । रोग आदि की स्थिति मे साधु को विह्वल भाव नहीं लाना चाहिये । सचित्त कद मूल फल आदि साधु को ग्रहण नही करने चाहिये ।

इस प्रकार बावन अनाचारो की स्थिति से सावधान बनाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि वस्त्र को धूप–अगरू आदि से साधु सुगधित नहीं बनावे,किंतु शरीर पर रहे हुए वस्त्रो के पसीना आदि से चिकना बनने पर वह विवेक–दृष्टि से काम ले । वस्त्रो पर फूलन न आवे या जुए न पडें–इसका ध्यान रखे। चिकने वस्त्र को शुद्ध पानी मे निकाल ले और इसमे प्रासुक पदार्थ का उपयोग किया जा सकता है । सोडा जैसे प्रासुक पदार्थ है और इससे वस्त्र धोया जायगा तो वस्त्र भी चिकनाई छोड देगा और जीव हिंसा भी नही होगी । मूल बात यह है कि शृ गार करने या अच्छा दीखने की भावना इन कामो से कभी भी साधु के मन मे नही आवे ।

छः काया के जीवों की रक्षा मुख्य है :

हर क्षेत्र मे साधु के लिये इस प्रकार का विवेक रखना अनिवार्य है कि वहा छ काया के जीवो की पूर्ण सुरक्षा हो । इसी कारण साधु को वस्त्र प्रक्षालन मे ऐसे पाउडर आदि काम मे नही लेने चाहिये, जिनसे जीवहिंसा का अन्देशा हो । इसी प्रकार विरेचन भी नही लेना चाहिये ।

शास्त्रकारो ने इसी सदर्भ मे छ काया के जीवो का स्वरूप बताते हुए विधान किया है कि महाव्रतो का पालन करते हुए साधु को कैसे रहना चाहिये ? त्रस और स्थावर जीवो की कैसे रक्षा करनी चाहिये ? इसी सम्पूर्ण विवेक के कारण साधु को छ काया का प्रतिपालक कहा है । किसी भी जीव की घात तो दूर–परन्तु उसे किसी प्रकार से क्लेश पहुचाने की हिंसा भी साधु न करे तो वह समस्त जीवो की रक्षा करता हुआ अहिंसा धर्म का सूक्ष्मतम पालन भी करे । यही कारण है कि उत्कृष्ट धर्म के तीन अ गो मे अहिंसा का क्रम सबसे पहले हैं । अहिंसा का पूर्णतया पालन साधु करेगा तो वह सयम का भी पालन कर सकेगा । अहिंसा और सयम की पालन–पुष्टता के पश्चात् ही तपाराधन की क्रिया उग्रतापूर्वक की जा सकेगी ।

मूलत 'अहिंसा परमो धर्म' जो कहा गया है,साधु को इसका ज्वलन्त प्रतीक बनना चाहिये । अहिंसा धर्म का स्थूल पालन श्रावक करता है तो उसका सूक्ष्म पालन साधु को करना होता है । एक प्रकार से साधु का जीवन सम्पूर्ण रूप से अहिंसामय होता है ।

"फूट ऊपजे जौन कुल, सो कुल वेग नशाय ।
युग वासन की रगडतें, सिगरा वन जल जाय ।"

–यह है इस फूट-राक्षसी की अमानुपिकता का प्रभाव । अत अपने घनते वल इसके चगुल में फस न जाओ, इस वात का सदा प्रयत्न करती रहो। वस यही ऊसर भूमि को नन्दनवन में वदल देने का राज-मार्ग है । यही उन्नति का सच्चा और सीधा-सादा मार्ग है ।

मां कौशल्या धन्य !

शताब्दियां वीत गईं, फिर भी ससार में कौशल्या के प्रति वही समादर है। जैसा कि उसकी जीवित अवस्था में था। आज भी जैन-जगत् की सोलह महासतियों में उनका नाम सम्मान और वडे ही स्नेह के साथ लिया जाता है। यह उनके सम्प-युक्त भावों और कार्यों का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है और था। अपने पुत्र राम को राज गादी न देने पर भी भरत की माता कैकई के प्रति उसने स्वप्न में भी ईर्ष्या नहीं की थी। ज्येष्ठ-पुत्र होने के नाते राजगादी का एक-मात्र अधिकार राम ही को था। परन्तु वह तो सदा यही सोचती और समझती रही कि राम और भरत तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न चारों मेरे ही तो पुत्र हैं । ये चारों एक ही परिवार रूपी शरीर के अग विशेष तो हैं। हीरे की अगुठी शरीर की किसी भी अंगुली में क्यों न पहनी जाय, उससे शोभा तो सम्पूर्ण शरीर ही की होती है। वैसे ही काटा शरीर के किसी अग ही में क्यों न लगे, उससे जो वेदना होगी, उससे तो सारे ही शरीर में तिलमिलाहट हो उठेगी। वस, यही हाल राम तथा भरत की राजगादी का है। कोई भी राजा क्यों न हो ? मुझे तो सभी पूत आखों के तारे के समान प्यारे हैं।

मा कौशल्या धन्य ! तुम जैसी आदर्श महासतियों ही से तो

संरक्षण-कार्य मे वह भी अपना पूरा-पूरा योग दे। गृहस्थो को चाहिये कि जिस भावना से इन सन्त सतियो ने त्याग-मार्ग को अगीकार किया है, उनको वे छोटी-छोटी बातो से विचलित नही करें। जो भी ऐसे महान् कार्य मे बाधक बनता है, वह अन्तराय कर्म का बध करता है और जो इन साधु-मर्यादाओ को सुरक्षित रखने मे सहयोग देता हे तथा सहायक बनता है, वह एक प्रकार से तीर्थंकरो की परम्परा को सुरक्षित रखने का सत्प्रयास करता है।

सर्वत्याग की साधना

साधु-धर्म सर्व-त्याग की साधना का पाथेय होता है। अपरूप जितना है, उसे छोडते जाओ और स्वरूप जितना है, उसे निखारते जाओ। यह साधु-धर्म का मूल हे। इसी मूल से विकास करती हुई आत्मा अरिहन्त एव सिद्धो का स्वरूप धारण करती है। इस एक पद के नमस्कार मे पाचो पदो का नमस्कार समाया हुआ है, क्योकि साधु के मूल से ही शेष चारो पदो पर विकास का क्रम चलता है।

साधु सर्वत्याग रूप जो पाचो महाव्रतो का पालन करता है, वह सभी प्रकार से निर्बाध बन सके, ऐसे वातावरण की रचना करना श्रावक-वर्ग का कर्त्तव्य है। इसीलिये श्रावक-श्राविकाओ को साधु के 'अम्मापियरा' भी कहा गया है। अत गम्भीर चिन्तन-मनन के साथ जो साधु-धर्म ग्रहण करता है और जो साधु-धर्म को अनुरूप सहयोग देता है, वे दोनो अपने जीवन को सार्थक बनाते हैं।

गंगाशहर-भीनासर

दि १५-११-७३

महाराज 'श्री रामचन्द्रजी' के आस-पास के काल ही में हमारे भारतवर्ष के 'विदेह-प्रान्त' के अन्तर्गत 'मिथिला' नामक एक नगरी थी। वहा उन दिनों 'महाराज जनक' राज करते थे। उनके एक पुत्री थी। उस का नाम 'सीता' था। उसका शरीर बडा ही सुन्दर और सुडौल था। तरुण अवस्था में 'श्री रामचन्द्रजी' के साथ उसका विवाह हुआ।

समय पाकर महाराज दशरथजी ने आत्मकल्याण के हित घर छोडना चाहा, उस समय भरतजी भी अपने पिताजी के साथ जाने लगे। जब कैकई ने इस वात को सुना। तब तो वह बडी ही अधीर हो उठी और उन्हें किसी भी तरह रोक लेने का प्रयत्न करने लगी। कई दिन तक उसे कोई उपाय न सूझा। इस लिए रात-दिन वह चिन्ता-मग्न रहने लगी।

मंथरा की मंत्रणा

कैकई की एक दासी थी। जिसका नाम था 'मंथरा'। वह स्वभाव की बड़ी ही काइया और कुटिला थी। उसने कैकई से कहा —

"महारानी! तुम ने जो अपने दो वरदान अपने पति के पास थाती रख छोड़े हैं। उनका उपयोग इस समय तुम क्यों नहीं कर लेतीं? तुम अपने एक ही वरदान को अभी मांग देखो। तुम आज ही राजा से माग लो कि 'भरत को राज-गादी मिले' यदि इस अव-

जितनी विषमता, उतनी विपरीतता :

जीवन की क्रियाशीलता की मूल इस चेतना-शक्ति को समझने मे दुविधा प्रतीत होती अवश्य दिखाई दे रही है। इसका कारण स्पष्ट है कि धीरे-धीरे विपम परिस्थितिया इतनी तीव्रता एव जटिलता से प्रसारित हो रही है कि वे चेतन तत्त्व को भली प्रकार समझने मे बाधाए उत्पन्न करती हैं। जितनी विपमता बढती जाती है, उतनी ही आत्मतत्त्व के प्रति विपरीतता भी बढती जाती है। जो बाहरी विपमताए दिखाई देती हैं,वे भीतरी विषमताओ की उपज होती हैं और ये सब विपमताए मिलकर न तो भीतरी तत्त्व को समझने देती हैं और न ही आत्मीय गुणो को विकसित होने देती है। जब तक व्यक्तिगत एव सामाजिक दृष्टियो से इन विषमताओ पर समुचित नियत्रण रहता है, तब तक बाह्य वातावरण मे भी सन्तुलन बना रहता है, अन्यथा इन विपमताओ के कुप्रभाव से बाह्य वातावरण मे सर्वत्र विपरीतता ही विपरीतता दृष्टिगत होती है।

इतिहास के पन्ने उलटने अथवा सामान्यतया मानव जाति के विकास की धारणा बनाने से यह समझा जा सकता है कि जब तक परिग्रह के जटिल रूपो का विस्तार नही हुआ था तथा उसके स्वामित्व के सम्बन्ध मे ममत्व की उग्र भावनाएं नही फैली थी, तब तक मनुष्य के मन मे समत्व अधिक था, उसमे उलझने पैदा नही हुई थी और वह विषमताओ के विविध घेरो मे कसा नही गया था। तब तक उसकी विचारणा किसी दृष्टि से सही थी और प्रवृत्तिया सरल थी, इस कारण उसका व्यवसाय एव सामाजिक व्यवहार भी सुलझा हुआ था। किन्तु आधुनिक विज्ञान के माध्यम से ज्यो-ज्यो आवागमन के साधनो का विकास हुआ और व्यापार व व्यवसाय का मशीनीकरण हुआ, अर्जन की परिस्थितिया बदलती गई, परिग्रह के सचय का रूप बदला तथा विषमताओ की खाइया चौड़ी होती गई।

इन खाइयो को पाटने के लिये विशिष्ट पुरुषो ने समय-समय पर आध्यात्मिक प्रयोग किये तथा ममत्व को छोडकर समत्व का दृष्टिकोण बनाने की प्रेरणा भी दी, किन्तु भौतिक विज्ञान को एकान्त रूप से पकड लेने के कारण सामान्य जन आध्यात्मिक जागृति की दिशा मे सन्तोषजनक रीति से अभिमुख नही बन सका।

परिणाम मे युद्ध और महाविनाश :

विषमता की खाइया धीरे-धीरे इतनी चौड़ी होती गईं—विपरीतता

इस पर श्रीराम ने सीताजी को बहुत समझाया। परन्तु उनका निश्चय तो वज्र की रेख थी। वे अपने निश्चय से एक तिल भर भी न डिगीं। अन्त में व रामचन्द्रजी के साथ हो लीं।

सीता-अपहरण

श्रीराम 'लक्ष्मण और सीता ने घूमते-घूमते मालव प्रदेश में होते हुए नर्मदा-ताप्ती आदि नदियों को पार किया। कुछ ही काल में वे नाशिक के जगलों के निकट पहुचे। वहां भाई लक्ष्मण खर-दूषण से लडने के लिये गये। इतने ही में वहा रावण की ओर से माया ने शंख बजाया और एक आवाज आई–

"भाई राम! मेरी रक्षा के लिये तुरन्त आओ।"

ज्यों ही यह आवाज रामचन्द्र ने सुनी, वे बोले–

"यह मायावी बात है। लक्ष्मण कभी हारने वाला नहीं।"

इस पर सीता ने कहा—

"आप को जरूर जाना चाहिये। न मालूम क्या बात है?"

उधर रामचन्द्रजी गये। पीछे से रावण सीता के निकट आया और उन्हें बल पूर्वक ले गया। 'जटायु' नामक एक पक्षी ने सीता को बिल-बिलाते हुए देखा। वह रावण से युद्ध करने के लिये दौड पड़ा। रावण के शरीर पर अनेकों चोचें उसने मारी। परन्तु अन्त में रावण ने उसे पख काट कर मार गिराया।

सीता रावण को बार-बार धिक्कारती है–

"अपने क्षत्रियत्व को क्यों कलंक लगा रहा है?"

रोते-बिसूरते श्रीराम-लक्ष्मण को याद करते हुए जिस आकाश मार्ग से वह भगाई जा रही थी। उस पथ में पथ प्रदर्शन के लिए अपने आभूषणों को वह उतार-उतार कर फेंकती जा रही थी। अन्त

जितनी विषमता, उतनी विपरीतता :

जीवन की क्रियाशीलता की मूल इस चेतना-शक्ति को समझने मे दुविधा प्रतीत होती अवश्य दिखाई दे रही है। इसका कारण स्पष्ट है कि धीरे-धीरे विषम परिस्थितिया इतनी तीव्रता एव जटिलता से प्रसारित हो रही है कि वे चेतन तत्त्व को भली प्रकार समझने मे बाधाए उत्पन्न करती हैं। जितनी विषमता बढती जाती है, उतनी ही आत्मतत्त्व के प्रति विपरीतता भी बढती जाती है। जो बाहरी विषमताए दिखाई देती हैं,वे भीतरी विषमताओ की उपज होती हैं और ये सब विषमताए मिलकर न तो भीतरी तत्त्व को समझने देती हैं और न ही आत्मीय गुणो को विकसित होने देती हैं। जब तक व्यक्तिगत एव सामाजिक दृष्टियो से इन विषमताओ पर समुचित नियत्रण रहता है, तब तक बाह्य वातावरण मे भी सन्तुलन बना रहता है, अन्यथा इन विषमताओ के कुप्रभाव से बाह्य वातावरण मे सर्वत्र विपरीतता ही विपरीतता दृष्टिगत होती है।

इतिहास के पन्ने उलटने अथवा सामान्यतया मानव जाति के विकास की धारणा बनाने से यह समझा जा सकता है कि जब तक परिग्रह के जटिल रूपो का विस्तार नही हुआ था तथा उसके स्वामित्व के सम्बन्ध मे ममत्व की उग्र भावनाएं नही फैली थी, तब तक मनुष्य के मन मे समत्व अधिक था, उसमे उलझने पैदा नही हुई थी और वह विषमताओ के विविध घेरो मे कसा नही गया था। तब तक उसकी विचारणा किसी दृष्टि से सही थी और प्रवृत्तिया सरल थी, इस कारण उसका व्यवसाय एव सामाजिक व्यवहार भी सुलझा हुआ था। किन्तु आधुनिक विज्ञान के माध्यम से ज्यो-ज्यो आवागमन के साधनो का विकास हुआ और व्यापार व व्यवसाय का मशीनीकरण हुआ, अर्जन की परिस्थितिया बदलती गई, परिग्रह के सचय का रूप बदला तथा विषमताओ की खाइया चौडी होती गई।

इन खाइयो को पाटने के लिये विशिष्ट पुरुषो ने समय-समय पर आध्यात्मिक प्रयोग किये तथा ममत्व को छोडकर समत्व का दृष्टिकोण बनाने की प्रेरणा भी दी, किन्तु भौतिक विज्ञान को एकान्त रूप से पकड लेने के कारण सामान्य जन आध्यात्मिक जागृति की दिशा मे सन्तोषजनक रीति से अभिमुख नही बन सका।

परिणाम मे युद्ध और महाविनाश :

विषमता की खाइया धीरे-धीरे इतनी चौड़ी होती गईं-विपरीतता

मिलेगी, मैं भोजन को भी ग्रहण न करूंगी। यह मेरी ध्रुव-प्रतिज्ञा है।"

सीता के प्रति लक्ष्मण की भक्ति

उधर जब श्रीराम लक्ष्मण के निकट पहुँचे, लक्ष्मण उनसे बोले—

"भाई! इस समय सीता को अकेली छोड़कर आप यहा आये ही कैसे? शीघ्र ही लौट चलो। कोई छल है। यहा तो विजय हो ही गई।"

दोनों भाई लौटकर कुटि पर आये, तो सीता को वहा न पाया। वे बड़े ही दु:खी हुए। पड़ौस के प्रत्येक स्थान को छाना, पर सीता का कहीं कोई पता न लगा। जटायु पक्षी तडफड़ाता हुआ मार्ग में उन्हे मिला और इधर-उधर बिखरे हुए सीता के कुछ आभूषण भी।

श्रीराम ने उन आभूषणों को लक्ष्मण के हाथों सौंप कर कहा—

'क्या, भाई! ये गहने सीता के हैं?"

लक्ष्मण बोले—

"बन्धुवर! इनको मैं जानूं ही क्या? सीता के चरणों को छोड़ उनके किसी अंग-प्रत्यंग की ओर मैंने कभी देखा तक नहीं।"

आज के देवर

पाठकों! देखा आपने अपनी भावज के प्रति उस समय की श्रद्धा और भक्ति? परन्तु आज का युग बिलकुल बदल गया है। देवर लोग अनेकों प्रकार की कुचेष्टाए अपनी भावजों के साथ आज करते देखे जाते हैं और यूं करके अपने ही हाथों नर्क का द्वार वे अपने लिये खोल लेते हैं।

सीता की खोज

एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों मे विचारशील शक्तिया प्रयत्नरत हैं, फिर भी विवेकयुक्त चिन्तन की धारा अभी मन्द है । भारत मे भी शान्तिदल या अन्यान्य नामो से इस दिशा मे यत्न किये जा रहे हैं और जनतन्त्र के नाम पर एक या दूसरे लुभावने नारे दिये जा रहे हैं, किन्तु जनमानस मे व्याप्त विपमता एव अशांति के रोग मे आशाजनक स्वास्थ्य-लाभ नही हो पा रहा है । चारो ओर फैली विषमता की इस विषभरी अवस्था से कुछ भी हो कठिन सघर्ष करना पड़ेगा तथा इस दिशा मे विवेकयुक्त चिन्तन ही सही मार्ग-दर्शन करा सकेगा ।

भारतीय संस्कृति और भारतीय परम्पराओ की दृष्टि से यदि स्वस्थ चिन्तन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस विषमता की औषधि समता के अमृत के रूप मे हमारे ही यहा उपलब्ध है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य इस अमृतमय उपचार को समझे, हृदयगम करे और आचरण के धरातल पर उसे साकार रूप प्रदान करे । एक व्यक्ति ऐसा करेगा, वह दूसरे को प्रभावित करेगा तथा व्यक्ति-व्यक्ति ही मिलकर अपने सामूहिक आचरण से समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व को प्रभावित्त करेंगे तथा विपमता को हटाकर सर्वत्र समता का प्रसार करने मे सफल बन सकेंगे । विवेकयुक्त इस चिन्तन की धारा को गहरी से गहरी बनाते जाइये और गम्भीरतापूर्वक मनन कीजिये, तब आपको अवश्य दिखाई देगा कि यह विषमता कहां से आरम्भ होती है, कहा तक किस प्रकार फैलती ही जाती है तथा वह किन उपायो से समाप्त की जा सकती है ? तब यह भी स्पष्ट होगा कि विषमता को समाप्त करके समता का अमृत सब ओर किस प्रकार बिखेरा जा सकता है और किस प्रकार सारे ससार को स्वस्थ प्रगति की दिशा मे गतिशील बनाया जा सकता है ।

विषमता का उद्गम और फैलाव :

विषमता का उद्गम कहां से होता है—उसका मूल कहा है—सबसे पहले इसे जानना जरूरी है ताकि वही से विषमता-विरोधी अभियान आरम्भ किया जा सके । गहरे विचार से स्पष्ट होगा कि विपमता का सूत्र मनुष्य के मन मे ही जन्म लेता है । मन विमोहित होता है तो चचल बनता है और स्वार्थ की तरफ आकर्षित होता है । यह आकर्षण ही अन्दर विषमता के बीज बोता है जो बाहर फूटकर सभी ओर विषमता के प्रतीको का निर्माण करते हैं। मन की स्थिति जब तक सन्तुलित नही बनाई जायगी, तब तक विषमता के कीटाणुओ को नष्ट नही किया जा सकेगा ।

विषमता के ये कीटाणु मन मे जन्म लेते हैं, व्यक्ति के वचन और

ही क्या है ? हां ! कभी-कभी वह मुझे डराने-धमकाने को आता था, उस समय उसके पैर मात्रों को मैंने देख पाया था।" सीता ने कहा।

सौतों ने सीता को फुसला कर रावण के पैरों का चित्र निकलवा लिया और अवसर पाकर श्रीराम को वह चित्र उन्होंने बताया। साथ में उन्हों ने यह भी कहा—

"जिस सीता को इतनी पतिव्रता आप समझते हैं, वह तो रावण के चरणों का दर्शन किये बिना भोजन तक ग्रहण नहीं करती।"

यूं कह कर वह चित्र भी उन्होंने श्रीराम को दिखा दिया। यह बात सुन और प्रत्यक्ष देखकर श्रीराम को बडा भारी अचरज हुआ। सौतों के साथ किसी अनबन के कारण यह बात बनाई गई हो, यह सोच कर फिर भी उन ने इस बात की ओर कोई विशेष ध्यान न दिया।

धोबी का आरोप

श्रीराम एक दिन अपनी प्रजा की वास्तविक स्थिति जानने के लिये वेष बदल कर नगर परिक्रमा को निकले। रात का समय था। जाते-जाते देखा कि एक धोबी अपनी धोबिन को बहुत बुरी तरह डाट-डपट रहा था और उसे राड-भाड कह कर मार-पीट कर रहा था। इस पर वह कहती जाती थी—

"मुझे राड न कहो, नहीं तो मैं अपने मायके को चली जाऊं गी।"

इस पर वह धोबी कहता जाता था—

"तू एक बार नहीं सौ बार चली जा। मैं तुझे वापस लाने वाला नहीं। मैं कोई राम नहीं कि जिन्होंने रावण के घर में रही हुई सीता को वापस अपने घर में रख ली।"

सीता वनवास

पडकर मनुष्य अपनी आत्मा को भूल जाता है–अन्तरावलोकन करने की शक्ति खो देता है । अपने अन्दर झाककर सत्य को खोजने की वृत्ति समता की दृष्टि से ही पैदा होती है और ममता छोडने पर समता आती है तो समभाव बनता है, समदृष्टि जन्म लेती है तथा सम–आचरण ढलता है । ममता मे भाव, दृष्टि और आचरण बाहर ही बाहर भटकते हैं । वे सुख को बाहर ढूढते हैं और सुख को अपने ही मे केन्द्रीभूत करने के दुर्लक्ष्य के कारण हिंसा, प्रतिहिंसा, विषय विकार, काम क्रोध, मान और लोभ के आवर्तो मे चक्कर काटते हैं । फिर भी उन्हे सच्चा सुख नही मिल पाता है । सब ओर विषम परिस्थितिया रच करके भी ममता के दास अन्त मे दुखी के दुखी ही रह जाते हैं और अपने द्वारा बनाये गये विषमय वातावरण से सब ओर दुख का ही प्रसार करते हैं । जहा ममता छूटती है, समता आती है तो सुख की खोज के क्षेत्र भी बदल जाते हैं ।

समता का साधक सुख को अपने ही अन्तकरण मे खोजता है और उसके लिये सबसे पहले अन्तरावलोकन करना सीखता है । इस अन्तरावलोकन से वह एक ओर प्रभु के निर्मल स्वरूप को देखता है तो दूसरी ओर अपनी आत्मा के मैल को। और तब उसको धोने के लिये आगे बढता है । इस प्रक्रिया मे वह पहले अपने मन को नियन्त्रित एव सन्तुलित बनाता है और बाद मे अपने समग्र आचरण को स्वस्थ रूप देता है । सबके साथ उसका व्यवहार समरस बनता है क्योकि वह अपने स्वार्थों का त्याग करता है और दूसरो के हितो को सम्पादित करता है ।

समता के आचरण सूत्रो को साधता हुआ वह समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी के सोपानो पर चढता हुआ समता–दर्शन से जीवन–दर्शन की गहराइयो मे उतारता है तथा आत्मदर्शन से अपना साक्षात्कार करता है, जबकि यही साक्षात्कार उसे परमात्म–दर्शन की ओर गतिशील बनाता है । व्यक्ति का जीवन जहा समता के आचरण से परमात्म–दर्शन तक अग्रसर बनता है, वहा व्यक्ति का समता का आचरण अन्य व्यक्तियो को भी उसके लिये प्रेरित करता है और यही प्रेरणा समाज, राष्ट्र और विश्व के जीवन मे जब साकार रूप ग्रहण करती है तो उसे समाजवाद, साम्यवाद या किसी भी अन्य नाम से पुकारिये—समता का वास्तविक बीजारोपण करती है । समता का सब ओर ऐसा वातावरण तब ममत्वहीन अवस्था मे भौतिकता को भी विकेन्द्रित बनाकर सबके सुख का उसे साधन बनाता है तो मुख्य रूप मे आध्यात्मिकता की उत्कृष्ट जागृति से सबके लिये सर्वांगीण विकास के द्वार भी खोलता है । समतादर्शन

"बेटों ! तुम्हारे पिता अयोध्या के महाराजा श्री रामचन्द्रजी हैं। मुझ निर्दोषिनी को उन्होंने वनवास दे दिया था।"

पितृ विजयी लव-कुश

बालकों ने उसी समय युद्ध की मन में ठानी। अपने नाना की सारी सेना लेकर अयोध्या पर चढ दौड़े। अयोध्या के निकट जाकर दूत के हाथ उन्हों ने कहला भेजा—

"रावण विचारे को तो तुमने धर दबोचा। अब रणस्थल में आकर हम क्षत्रियों का भी रण-कौशल जरा देख लो और क्षत्रियत्व का परिचय दो।'

श्रीराम यह सुनकर बडे ही चिन्तित हुए कि 'यह फिर कौन शत्रु जागा ?' श्रीराम ने भी युद्ध की तैयारी की। अब दोनों सेना मुठभेड़ के लिये मैदान में आ डटीं। अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग किया गया। परन्तु एकदम बेकार रहा। वे चले तक नहीं। बड़ी-बड़ी तोपों के गोले गड़गडाहट करके वहीं अटक रहे। अन्त में श्रीराम ने चक्र चलाया, परन्तु वह भी अपने आत्मजों पर चल ही न सका। यह देख श्रीराम के होश-हवाश खट्टे हो गये। वे सोचने लगे—

'अब गया राज्य अपने हाथों से। ये दो बालक न जाने किसके वंशज हैं ? जिस चक्र के ऊपर मैं नाच रहा था, उसने भी कोरा सा उत्तर दे दिया। अब रह ही क्या गया ?'

उसी समय नारदजी भी घटनास्थल पर आ पहुचे थे। श्रीराम ने सारा हाल उनसे पूछा। उत्तर में नारदजी बोले—

'राज्य इनका और इनके बाप का है।'

"ऋषिवर ! यह बोल क्या रहे हो ?"

"मैं सूर्य में प्रकाश की भांति सत्य कह रहा हूँ। ये आपके पुत्र

विषमता मन से फूटकर सारे जन-जीवन को जहरीला बनाती है। तभी कृत्रिम जातियो, कृत्रिम पार्टियो और कृत्रिम ग्रुपो का जन्म होता है, जो कहते कुछ और है तथा हकीकत मे करते कुछ और है। इसी दशा मे जनतत्रीय व्यवस्था के दुरुपयोग की स्थिति पैदा होती है। यही विषमता-जन्य विपरीतता की स्थिति ही मानव चारित्र को कलक कालिमा से काला बनाती रहती है। चारित्र को उन्नत बनाने का प्रश्न इस कारण सबसे पहले है और उसका प्रारम्भ व्यक्ति को अपने ही चरित्र से करना होगा, जिसकी पहली सीढी होगी कि वह अपने अन्तर्मन को माजे।

समता को जीवन मे उतारिये :

भौतिक विषमता के कुप्रभाव से दृष्टि कितनी स्थूल बन गई है कि जब मुद्रा के अवमूल्यन का प्रसग आता है तो देश के अर्थशास्त्री और राजनेता चिन्तित होते हैं किन्तु दिनरात जो भारतीय-जन के चारित्र का अवमूल्यन होता जा रहा है, उसके प्रति चिन्ता तो दूर-उसकी तरफ नेता लोगो की कार्यकारी दृष्टि तक नही जा रही है। विषमता के इस सर्वमुखी सत्रास से विमुक्ति समता को जीवन मे उतारने से ही हो सकेगी। समता की भूमिका जब तक जन-जन के मन मे स्थापित नही होगी, तब तक जीवन की चेतना-शक्ति के भी दर्शन नही होगे। चेतना शक्ति की जागृति के अभाव मे स्थायी रूप से विषमता के दलदल से बाहर निकल पाना सम्भव नही होता है।

व्यक्ति से लेकर विश्व के जीवन मे शाति के क्षण तभी उद्भूत हो सकेगे जब चेतना-शक्ति का अभ्युदय होगा। विश्व मे दो ही तत्त्व हैं-एक चेतन तो दूसरा जड। चेतन शक्ति है, वह आत्मशक्ति है,सचालक शक्ति है। जो कुछ चर्मचक्षुओ से दिखाई देता है,वह जड तत्त्व है। चेतन और जड के मिलन से जीवन की रचना होती हैं, दृश्य जगत् का निर्माण होता है। वैसे ही आध्यात्मिकता और भौतिकता सही अर्थों मे एक दूसरे की पूरक होती हैं, बशर्ते कि चेतन नियत्रक हो और जड उसके नियत्रण मे हो। यह स्वाभाविक प्रक्रिया होनी चाहिये। किन्तु जो केवल भौतिकता को लेकर चलना चाहते हैं, वे अन्तरात्मा की आवाज को नही पहिचानते है। वे प्रत्येक समाधान के लिये भौतिक विज्ञान की ओर निहारते हैं, लेकिन यह नही समझ पाते कि इस भौतिक विज्ञान की जननी कौन है? चेतन को जड से अनुशासित रखने की पद्धति जीवन मे शिथिलता और मलिनता लाती है। जड को चलाने वाली चेतन शक्ति होती है तो भौतिक विज्ञान की जननी भी आध्यात्मिकता है। इस विज्ञान का निर्माता आत्मतत्त्व होता है और यही समता का स्वामी हो सकता है।

कुछ ही दिनो के पश्चात् इस ससार की असारता को देख आत्म कल्याण की इच्छा से सीतादेवी ने दीक्षा ग्रहण करली और तप तथा सयम की साधना करके अन्त में वह स्वर्ग में सिधारीं। लव-कुश को राज्य सौंप कर अन्त मे श्रीराम ने भी आत्म कल्याण किया।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] कैकई के कष्ट निवारण के लिए मन्थरा ने कौन सा उपाय सुझाया ?

[२] सीता और रावण के सवाद को थोडे में कहो।

[३] तब और अब के भाइयो के स्वभावों में अन्तर दिखाओ।

[४] सीता को अपनी मिधाई के कारण कौन-कौन सी आपदाएं सहनी पडी ?

[५] "श्रीराम एक आदर्श राजा थे। लोकरंजन का सदा सर्वदा पूरा-पूरा ध्यान रहता था।" कैसे ? उदाहरण देकर समझाओ।

[६] लव कुश और श्रीराम की सेनाओं मे जो रक्तपात होने ही वाला था, वह अचानक कैसे रुक गया ?

[७] सीता ने अपने सतीत्व का परिचय कैसे दिया ?

जिस बात का औरों के ऊपर, तुम दोष व्यर्थ ही मढते हो।
तुम में भी हैं वह त्रुटिया, इस ओर तनिक नहीं बढते हो॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी महाराज

समता आध्यात्मिकता से प्रेरित हो :

आध्यात्मिकता से प्रेरित समता ही सर्वत्र गुण एवं कर्म की दृष्टि से समानता स्थापित करती है । आज के इस वैज्ञानिक युग मे कई विचारवान् व्यक्ति एव बुद्धिवादी वर्ग भी शारीरिक विज्ञान की दृष्टि से ही सोचा करते हैं और वे इस धारणा को लेकर चलते हैं कि सारे ससार का सचालन पचभूत-पिंड स्वरूप शरीर और इसके मूल कोशिकाओ, कोमोजोम और जीन से होता है । किन्तु डॉ स्ट्रोमवर्ग के नये सिद्धान्तो ने विज्ञान-जगत् मे नई हलचल मचा दी है । डॉ वर्ग का प्रतिपादन है कि शरीर की कोशिकाए जो भौतिक पदार्थों से निर्मित हुई हैं, वे अभौतिक दृष्टि से सचालित होती हैं । यह अभौतिक तत्त्व और कोई नही, स्वय आत्मा है । द्वितीय युद्धोत्तरकाल के बाद एक प्रमुख वैज्ञानिक ने तर्कों के आधार पर आध्यात्मिकता का दृढता से समर्थन किया है, यह अभौतिक शक्तियो के अनुसधान के लिये शुभ चिह्न है। डॉ स्ट्रोमवर्ग के नये सिद्धान्त-निरूपण से आध्यात्मिक शोध का नया मार्ग खुलेगा ।

भारतीय निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति मे आत्मा-परमात्मा एव जड चेतन सम्बन्धी जो विस्तृत विश्लेषण आया है, वह बेजोड है। इस ओर भारतीयो का भी ध्यान विशेष रूप से आकर्षित नही हुआ है । वैसी स्थिति मे डा बर्ग के सिद्धात इस दिशा मे नई प्रेरणा देने वाले सिद्ध होगे । मस्तिष्क का एक भाग पीनियल या ए पी फीसिस (अधिवर्घ) का कार्य करता है-इसका रहस्य अभी तक वैज्ञानिक ज्ञात नही कर पाये हैं जिसका कि सचालन-सम्बन्ध आत्मिक शक्ति से है । इस प्रकार भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी यह सिद्ध हो जाय कि सारा सचालन सूत्र अन्तर्शक्ति आत्मा के पास है तो कोई आश्चर्य नही ।

अनुभूति से तो यह सिद्ध है ही कि वस्तुत सचाचक आत्मा है और इसी की शक्ति सर्वत्र व्याप्त है । इस दिशा मे चिकित्सक वर्ग शारीरिक चिकित्सा के साथ-साथ यदि मानव-मस्तिष्क की गुत्थियो को सुलझाने का भी प्रयास करें तो आध्यात्मिकता की दृष्टि से विषमता के सक्रामक रोग को समाप्त करने मे भी सफलता मिल सकेगी । शरीर और मन दोनो को स्वस्थ बना दें तो वहा समता की स्थिति का आना सहज और सरल बन जायगा। फिर आध्यात्मिकता के पुट से उसका निरन्तर विकास होता जायगा ।

भौतिक सत्ता और सम्पत्ति की लिप्सा :

मैं कभी-कभी सोचता हू कि भौतिक सत्ता और सम्पत्ति की लिप्सा

वह वहा कृष्ण महाराज और नेमिनाथ थे, वहां पहुचा और बोला-

"क्या महाराज। नेमिनाथजी के विवाह के लिए पधार रहे हैं? परन्तु ये लग्न निकाले किसने हैं? मेरी समझ में तो इन लग्नों पर इनका विवाह किसी भी प्रकार से हो नहीं सकता।"

"ब्राह्मण देवता। यहा पचायत करने के लिए तुम्हें बुलाया किसने था? बड़ी कठिनाई से तो हम लोगों ने नेमिनाथजी को विवाह के लिए उतारू किया, और ऊपर से तुम अलग ही रोडा अटकाने को आ गये।" कृष्ण महाराज ने कहा।

"महाराज! आप राजी हो या नाराज, किंतु इन लग्नों पर तो इनका विवाह कभी होगा नहीं।"

"चल-चल। छोड रास्ता यहा से, आगया बीच ही मे 'मान-न-मान, मैं तेरा मेहमान बन ने को।"

"अच्छा। देख लेंगे हम भी। विवाह लाना इन्हें, कहीं ऐसा न हो कि मूल की पूजी भी गाठ से गवा बैठो।" कहते हुए ब्राह्मण देवता चलते बने।

अहिंसा के रक्षक

यह बात सुनकर कृष्ण महाराज विचारों मे भयकर भूकम्प-सा आ गया। अभी वहा से वे कुछ ही आगे बढे थे, कि नेमिनाथजी की निगाह एकदम मार्ग के उसी स्थान पर पडी, जहा उनके विवाह के निमित्त आये हुए मासाहारियों के लिए वध्य पशु लाकर रखवे गये थे। वे रक्षा के हित बाहर की ओर अपना मुह लटकाये हुए थे, कि वे वहा से किसी भी तरह उन्हें मुक्त करवादें।

इसी समय नेमिनाथजी ने अपने सारथी से रथ को रोक देने के लिए कहा और उन पशुओं के सम्बन्ध में पूछताछ करने पर ज्ञात

वर्ग बने जो समता सिद्धात का प्रचार प्रसार भी करे तथा अपने स्वयं के जीवन से समता का आदर्श भी प्रस्तुत करे । इस वर्ग के प्रयत्नो से समता की अवस्था पल्लवित बन कर सब ओर आन्तरिक आनन्द का प्रवाह प्रवाहित कर सकती है। मैं आत्मा का जो यह कथन करता हू, उसे अपेक्षा दृष्टि से समझना चाहिये क्योकि कर्मावरण की दृष्टि से भेद है वरना योग्यता की दृष्टि से सबकी आत्माएं समान हैं। मूल चेतना-शक्ति सभी मे रही हुई है और उसे जगाने की आवश्यकता है । यह कार्य ही मुख्य रूप से इस वर्ग को करना है ।

यह वर्ग इस तथ्य को भी स्पष्ट करे कि भौतिक एव अभौतिक तत्त्वों का समन्वय किया जा सकता है किन्तु इन दोनो तत्त्वो मे अभौतिक तत्त्व को प्रथम स्थान दिया जाय । यह अभौतिक तत्त्व अविनाशी और अखण्ड है अत इसे सचालक और नियत्रक का स्थान दिया जाय तथा समता दृष्टि के साथ भौतिक तत्त्वो की व्यवस्था की जाय तो आज की कई कठिन समस्याओ का सरल हल निकल आएगा । कोई भी समाधान अशक्य हो सकता है किन्तु असम्भव नही और यदि कोई समता दर्शन के चिन्तन एव व्यवहार के धरातल पर इस अशक्य को शक्य बनाने का यत्न करे तो वह भी सफल बन सकता है।

आध्यात्मिकता एव भौतिकता का सफल समन्वय वही कर सकता है जो समता की साधना कर रहा हो क्योकि समदृष्टि के कारण वह दोनो तत्त्वो का यथोचित मूल्याकन कर सकेगा । विजमता से पीडित व्यक्ति यदि इन दोनो का ससन्वय करना चाहे तो वह कभी भी सही नही होगा क्योकि विषमता मे गुणो के मूल्य को स्थान ही कहा होता है ? जीवन मे गुणो को प्रश्रय मिले, चरित्र की प्रतिष्ठा स्थापित हो तथा समता आचरण मे समा जाय-इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये समता-साधको का एक वर्ग बने तो समता-प्रसार का कार्य तेजी से प्रगति कर सकता है ।

समता के धरातल पर आना ही होगा :

आज तो मूल मे ही भूल चल रही है और जब इसको सुधारेंगे तब समता के धरातल पर आना ही होगा । अन्तर्मन को माजने पर ही मूल की भूल सुधर सकेगी । आज करें, कल करें या उसके बाद किन्तु इस भूल को सुधारने से ही काम चलेगा तथा समता के धरातल पर खडा होना ही पडेगा । मैं अपनी स्थिति से अपने कर्त्तव्य को सामने रखकर ही समता दर्शन के विषय मे कहता रहता हू । अब कोई सुने या नही सुने-पाले या नही पाले, मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए चल रहा हू । प्राचीन काल मे भी महापुरुषो ने इस सम्बन्ध मे अपने कर्त्तव्य को पूरा किया । समझने वाले

"बस ! अब अधिक न बोल ! छोटे मुंह से बडी बातें नहीं शोभती। मेरे लग्न तो उनके साथ उसी घडी हो गये थे, जब मेरे लिए घर के स्थान पर उन्हें चुना था। सती-साध्वी नारियों के लिए तो 'तिरिया-तेल-हमीर हठ, चढे न दूजी बार' ही की बात होती है। वे अपने पतियों की छाया-रूप होती हैं। तब तो जो गति उनकी, वही मेरी भी होनी ही चाहिए। यदि आत्मकल्याण की ओर उन्होंने कदम बढाया है, तो मेरा भी कर्तव्य है कि मैं भी उसी ओर बढ़ू"

मां ! दीक्षा दिलादे

स्वामी को यूं कह-सुन कर वह माता के पास आ बोली—
"अम्मा ! मुझे चल करके दीक्षा दिला दे।
दीक्षा दिलादे, शिक्षा दिलादे ।
हा, मुझे गिरनार की राह दिखादे ॥ टेक ॥
कगन को तोडूं जरा, घेमर को मोडूं ।
हा, मुझे वैराग की साड़ी रगा दे -१-
ससार का नाता झूंठा है माता ।
हा, मुझे मुक्ति के मार्ग लगादे -२-

—"मा ! अब उतार कर फेंकती हूं, मैं विवाह की इस वेश-भूषा को और जाती हूं आत्म कल्याण के लिए।"

यूं यह सुनकर वह तो उसी समय साध्वी बन गई। उन दिनों राज-रानिया भी दीक्षा धारण करती थीं। अभी कुछ ही समय के पहले राजा मुज की धर्मपत्नी 'कुसुमावती' ने भी दीक्षा धारण की थी। धार-राज्य के इतिहास के पन्ने इस बात की गवाही दे रहे हैं।

रहनेमि की लिप्सा

एक दिन सती राजमति विचरण करते-करते गिरनार की पहाडियों के निकट से गुजर रही थी। अभी निकट के गाव में पहुचने भी न पाई थी, कि इतने ही में वर्षा ने आ घेरा। उसके सारे कपडे

तप : सत्पुरुषार्थ के रूप में

"शान्ति जिन एक मुझ विनती ......"

शान्ति के स्वरूप को अवगत करने की दृष्टि से इस प्रार्थना की पक्तियो के उच्चारण का प्रसग प्रतिदिन चल रहा है। यह एक तो तीर्थंकरो के महान् उपकार को स्मृति-पटल पर लाने तथा दूसरे, मगलाचरण की दृष्टि से किया जाता है। परन्तु इसके साथ ही प्रभु की चरम शान्ति का वह अनुभव, जो शास्त्रो के माध्यम से भव्य आत्माओ के समक्ष आता है, उसको हृदयगम करने का प्रयास भी किया जाना चाहिये।

इस प्रार्थना की पक्तियो का गुंथन कुछ विचित्र रीति से हुआ है। परमात्मा के चरणो मे नमस्कार हर कोई प्राणी करता है जो उस स्वरूप को आदर्श मानता है। परन्तु स्वय को नमस्कार करने का प्रसग विरला ही आता है। अपितु कभी-कभी स्वय के विषय मे किन्ही विशिष्ट गुणों का कथन करने को कोई बाध्य करे तब भी व्यक्ति सकोच ही करता है। किन्तु इन कडियो मे स्वय के गुणो का कथन ही नही किया गया है, वल्कि स्वय को नमस्कार भी किया है। जैसे इस बात से कवि के शब्दों मे अति आश्चर्य है, आत्मा मे अति आश्चर्य है, वैसे ही श्रोताओ को भी आश्चर्य हुए विना नहीं रहेगा। यह कैसी बात है कि आत्मा स्वय के ही गुणो का कथन करे और स्वय को ही नमस्कार करे !

आपका अनुभव है कि नमस्कार तो दूसरो को किया जाता है। नमस्कार की क्रिया मे दो की आवश्यकता होती है—एक नमस्करणीय हो और दूसरा नमस्कर्त्ता ! नमस्करणीय नमस्कर्त्ता से वडा होता है। इसका अर्थ है कि जिसको नमस्कार किया जाता है, वह नमस्कार करने वाले से अधिक गुण-सम्पन्न एव चारित्र्यशील हो। ऐसा व्यक्ति ही वन्दनीय और सम्माननीय वनता है। इस तरह वन्दन करने वाला और वन्दन पाने वाला—दोनो अलग-अलग

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] नेमिनाथजी का मन विवाह से क्यों उचट गया ?

[२] 'सती नारी अपने पति की छाया होती है।' राजीमति ने इस कथन को कहां तक निभाया ?

[३] राजीमती ने रहनेमिजी को सुपथ पर कैसे लगाया ?

मन अगर कुपथ में जावे तो,
तन को काबू में रखना तुम।
मन सत्पथ में आवेगा ही,
अभ्यास एक यह रखना तुम।

× × ×

बस यही विजय सर्वोत्तम है,
सब विजयों का है सार यही।
अपने मन पर विजय करो,
विजयी का है आधार यही॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म०

महत्त्वपूर्ण होता है तो क्या केवल ज्ञानी अपने केवलज्ञान को महत्त्व देकर केवल-ज्ञान को नमस्कार करते है या अपने भीतर रहने वाली समग्र शक्तियो को नमस्कार करते हैं ? अब सोचिये कि केवलज्ञान की उपलब्धि किससे हुई ? केवलज्ञान की सत्ता—केवलज्ञान की योग्यता आप मे भी रही हुई है और आप मे ही क्या, ससार की समस्त भव्य आत्माओ मे वह सत्ता रूप मे रही हुई है, न कि प्रकटीकृत रूप में। एकेन्द्रिय जीव की आत्मा मे भी सिद्ध की शक्तिया सत्ता रूप मे रही हुई होती हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि वे आत्माए उस सिद्ध अवस्था एव केवलज्ञान की योग्यता को प्रकट क्यो नही कर पा रही हैं ? क्या उन आत्माओ को केवली भगवान् का निमित्त नही मिला अथवा उनके सामने सत्सगति का सयोग नही आया ? कहा जा सकता है कि ऐसी बात नही है। सयोग और निमित्त मिलने के बाद भी वे आत्माए अपनी आन्तरिक शक्तियो को नही जगा पाईं और मूर्च्छित अवस्था मे चल रही है। इसके विपरीत जिन आत्माओ ने अपनी शक्ति के महत्त्व को समझा और उसके माध्यम से सहचरी शक्तियो को उभारने का प्रयास किया, उन्होने अपना विकास भी कर लिया।

इस विकास का मूल यह है कि एक आत्मा को "स्व" की अनुभूति होनी चाहिये। यह अनुभूति कैसे होती है ? "स्व" की अनुभूति तभी हो सकती है, जब पहले "स्व" का अस्तित्व स्वीकारा जाता है। 'स्व' है—यह मान लेने पर ही "स्व" कैसा है—इसकी सलेक्षा की जाती है और यही समीक्षा स्वानुभूति की आधार होती है। कल्पना करें कि एक परिवार के निवासस्थान मे चारो तरफ से आग लग गई और सभी सदस्य उसे देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये, किन्तु परिवार का मुखिया साहसिक था। वह कहता है – रोते-चिल्लाते क्यो हो ? आओ, मैं तुम्हे बाहर निकालता हू। ऐसा साहस बधाने वाला, मार्ग दिखाने वाला और पुरुषार्थ करने वाला मुखिया सारे परिवार को बचा लेता है। इसी प्रकार आत्मा के अन्दर की सारी शक्तियो का भी एक परिवार होता है। इन्ही सारी आत्मिक शक्तियो के इर्द-गिर्द विषय और कषाय की ज्वालाए सुलग रही हैं। अब स्वानुभूति के साथ जब विवेक शक्ति जागृत होती है तो वह एक ही शक्ति अन्य सारी शक्तियो को इन ज्वालाओ से बचा लेती है। अकेली स्वानुभूतिपूर्ण विवेक-शक्ति सभी शक्तियो को जागृत बनाती हुई आत्मा को विषय-कषाय की ज्वालाओ से बाहर निकाल लेती है। यदि "स्व" की अनुभूति सदा जीवन्त बनी रहती है तो आत्मीय शक्तियो की रक्षा भी होती है तथा उनका यथोचित विकास भी होता है।

इस पर द्रौपदी खिल-खिला कर हंस पड़ी और बोली—

"आखिरकार सन्तानें तो ये अन्धे ही की हैं न ? बपौती का गुण विरासत में इन्हे मिलना चाहिए ही था। इसीलिए तो इन्हें पन्ने के फर्श में पानी का भ्रम हो रहा है।"

द्रौपदी के इन शब्दों ने दुर्योधन के हृदय को चलनी-चलनी बना दिया। उनके तन-बदन में आग-आग फूट गई। उत्सव का आनन्द हराम हो गया। अब तो खाते-पीते, उठने-बैठते, चलते फिरते, बस एक ही धुन उनके सिर पर सवार हुई, कि द्रौपदी से उनके इस घोर अपमान का बदला किसी-न-किसी रूप में अवश्यमेव चुकाया जाय।

प्रतिशोध का निश्चय

जहा इच्छा होती है, वहा साधन भी कोई-न-कोई आकर मिल ही जाता है। कहा भी है—"जिन खोजा तिन पाईया, गहरे पानी पैठ।" सोचते-सोचते दुर्योधन को एक रामबाण नुस्खा मिल गया। उसने कहा—

"पाडवों को जूआ खेलने का बड़ा भारी शौक है। बस, इसी जुए में इन्हें पराजित करके द्रौपदी को न्याय या अन्याय से अथवा धर्म से या अधर्म से किसी भी प्रकार अपने अधिकार में किया जाय। फिर तो इसे अपने इस घोर अपमान का मजा हम भली-भांति चखा देंगे।"

इस युक्ति का उसके सभी साथियों ने एक स्वर से अनुमोदन और समर्थन किया। आखिरकार ऐसा ही हुआ और पांडवों को जूआ खेलने के लिए राजी किया गया।

पुरुषार्थ का गतिक्रम कैसा ?

यह देखने की वस्तुस्थिति होती है कि आत्मा में पुरुषार्थ किस रूप मे रहा हुआ है— उसका गतिक्रम कैसा है ? पुरुषार्थ वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रत्येक आत्मा को प्राप्त होता है। इसी के फलस्वरूप आत्मा शारीरिक अवस्था मे हलन-चलन करती है, उठती-बैठती है, सोती-जागती और खाती-पीती है। यह सब भी पुरुषार्थ ही है। यह पुरुषार्थ मनुष्यो मे ही नहीं, पशु-पक्षियो मे भी होता है, कीट-कीटाणुओ में भी होता है तो नरक व देव योनियो मे भी होता है। यह पुरुषार्थ हलन-चलन नहीं करने वाली वनस्पति मे भी है। वनस्पति दीखने मे तो एक स्थान पर दीखती है, परन्तु वह भी पुरुषार्थ से काम करती है। वह बीज से अंकुरित होकर वृक्ष का रूप लेती है तो भूमि से वह अपने योग्य आहार ग्रहण करती है, पल्लवित और पुष्पित होती है एवं फलों से सज्जित भी होती है। इसके साथ ही वह अपने को विरोधी तत्त्वो से दूर भी रखती है। अपने योग्य आहार को ही ग्रहण करना— यह पुरुषार्थ शक्ति से ही सम्भव होता है। इसी पुरुषार्थ-बल से वनस्पति के छोटे जीव भी पुण्यो का सचय करते हुए एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय और इस तरह आगे तक उत्थान करते हुए सर्वोच्च विकास तक भी पहुंच सकते हैं। ऐसा होता है पुरुषार्थ का गतिक्रम !

पुरुषार्थ के साथ भाग्य की बात भी समझ लीजिये। पुरुषार्थ के बल से वनस्पति का छोटा-सा जीव भी मनुष्य जीवन प्राप्त कर सकता है, तब भाग्य किस स्थिति का नाम है ? अज्ञान के कारण जो लोग भाग्य को बडा महत्त्व देते हैं, वे सोचते हैं कि इस ससार मे जो कुछ है, वह भाग्य है। भाग्य उसका अच्छा है तो अच्छा होगा और बुरा है तो बुरा होगा। जो भाग्य को ही सब कुछ समझ कर चलते हैं, वे अपनी पुरुषार्थ शक्ति का उपयुक्त मूल्यांकन नही कर पाते हैं। जिनके जीवन मे सद्विवेक की जागृति होती है, वे अपने पुरुषार्थ को सत्पुरुषार्थ का रूप देकर यही चिन्तन करते हैं कि भाग्य की बात उनके लिये कुछ भी नही है, क्योंकि पूर्व मे जिन कर्मों का सचय किया जा चुका है, उनका फल भोगे विना छुटकारा नही। उस भोग को अवश्यभावी समझ कर समभाव से वे उनका फल भोगते हैं तथा अपने पुरुषार्थ को पूर्व सचित कर्मों को नष्ट करने तथा नवीन कर्म बन्धन करने मे लगाते हैं। यह तो होता है स्वस्थ चिन्तन। परन्तु उस कर्म फल को व्यर्थ करने अथवा उसके भोग से वचने की शक्ति पुरुषार्थ मे नही रहने से वहा भाग्य की सज्ञा दे दी जाती है। पुरुषार्थ तो वहा भी सक्रिय है क्योकि वैसी भाग्य रेखा का निर्माण

मनचीती हुई। उसने उसी क्षण अपने भाई दुःशासन को हुक्म दिया कि—

"अपने लोगों की खिल्ली उड़ा कर अपना घोरतम अपमान करने वाली उस रंडी द्रौपदी को पकड़ लाओ और इस भरी सभा में उसे नंगी करके मेरी जंघा पर ला बिठाओ। क्योंकि यहां तो सब-के-सब अन्धे ही अन्धे हैं। देखने वाला है ही कौन ?"

दुःशासन ने चट वैसा ही किया। पाण्डव इस दुर्घटना को खड़े-खड़े अपनी आंखों से देखते रहे। किन्तु अपने सदाचार के कारण वचनबद्ध होने से वे विवश थे। जूए में वे अपना सर्वस्व हार चुके थे।

द्रौपदी की प्रभु-पुकार

इस कठोरतम संकट के समय अपनी लाज की रक्षा का कोई उपाय न देख द्रौपदी ने एक मात्र दीन-बन्धु अशरण-शरण भगवान् ही की शरण ग्रहण करना उचित समझा। उसने अंतःकरण की गुहार से भगवान् को पुकारा—

"भगवन् ! सीता और अंजना जैसी महासतियों के कष्टों को जब आप ने काटा है। तब क्या मुझ अभागिनी की रक्षा आप न करेंगे ? अभी आप के सिवाय मेरी रक्षा करने की सामर्थ्य संसार के किसी भी पुरुष में नहीं।"

द्रौपदी की इस करुण गुहार के भावों को कवि ने यूं दिखाया है—

[तर्ज—जो आनन्द-मंगल चाहो रे]

मैं तो आई शरण तुम्हारी रे, प्रभु ! कीजे मेरी सहाय ॥ टेर ॥
सती द्रौपदी रानी, सही दुष्ट दुशासन तानी ।

कर लेता है। साधु–व्रत मे पुरुषार्थ तीनों योगों से चलता है– तब मन, वचन और काया—तीनो से सत्पुरुषार्थ की साधना होती है। यही सत्पुरुषार्थ जब कठिनतम बनता है तो आन्तरिक शक्तिया विकसित होती और आल्हाद करती हुई उस गुणस्थान तक पहुच जाती है, जहां केवल ज्ञान की उपलब्धि होती है।

केवलज्ञान की उपलब्धि पुरुषार्थ की ही उच्चतर श्रेणियो मे होती है क्योकि पुरुषार्थ से ही चारित्र्य की परिपूर्णता प्राप्त होती है और इसी परिपूर्णता से चरम ज्ञान एव दर्शन की उपलब्धि होती है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की परिपूर्णता तभी बनती है, जब मन, वचन एव काया के सभी योगों मे सत्पुरुषार्थ के बल से एकरूपता एव परिपूर्णता प्रकट होती है। तीनो योगो की एक धारा का पुरुषार्थ ही कर्म बन्धनो को तोडने मे सफल बनता है। योग–पद्धति से देखा जाय तो यह सब आन्तरिक शक्ति का ही विकास है। ऐसे योग की सज्ञा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली आत्मिक शक्ति ही होती है। जब यही योग सज्ञा, मन, वचन एव काया के माध्यम से सफल बनती है तो वह विषय और कषाय के समग्र मल्ल कर्मों को पछाड कर आत्मा मे परमात्म स्वरूप को प्रकट करने मे समर्थ हो जाती है।

पुरुषार्थ को सत्शक्ति की उच्चतर श्रेणियो मे पहुचा देने पर उसी के बल से चारित्र्य परिपूर्ण बनता है तो ज्ञान, दर्शन भी अपने विकास की चरम सीमा पर पहुच जाते हैं। योगो का उच्चतम सत्पुरुषार्थ आत्मा को सर्वज्ञाता एव सर्वदृष्टा की श्रेष्ठ शक्ति प्रदान करता है। केवलज्ञान की अवस्था मे आत्मा अपनी समग्र आन्तरिक शक्तियो का मर्म जानने मे समर्थ बन जाती है।

अहो, अहो ! हुं मुझने कहूं :

इसी अवस्था मे आकर आत्मा मे अति आश्चर्य की स्थिति पैदा होती है और तब आत्मा स्वय अपने से ही कथन करने लगती है कि "अहो, अहो! हु मुझने कहू।" वास्तव मे क्या कुछ कहा जाय ? उस वक्त आत्मा की समस्त शक्तिया अति आश्चर्य के साथ सोचती है कि आत्म–शक्तियो मे दाह पैदा करने वाले विषय और कषाय के विकारो को नष्ट कर लेने के बाद अन्त करण मे कितनी अभूतपूर्व शाति उत्पन्न हो जाती है ? उसका वह शान्ति का अनुभव उसके सत्पुरुषार्थ का प्रतीक होता है। वह आत्मा अति आश्चर्य के साथ मानती है कि यदि सत्पुरुषार्थ को वह नही अपनाती तो वह इस आश्चर्यकारी शान्ति की अनुभूति भी नहीं ले पाती। तब वह भाव–विभोर होकर कहती है—मैं

"नारी बीच सारी है, कि सारी बीच नारी है।
नारी ही की सारी है, कि सारी ही की नारी है॥"

सत्य की जय हुई। देवों ने द्रौपदी के पक्ष में विजय-दुन्दुभी बजाई। किन्तु पाण्डव राज्य को हार चुके थे। वे कृष्ण महाराज के पास पहुचे और द्युत-क्रीडा में आदि से इति तक कैसे वे अपने सर्वस्व को खो बैठे ? सारा वृतान्त उन्हें कह सुनाया।

पाण्डव-दूत श्रीकृष्ण

पहले में श्रीकृष्ण महाराज बोले-"द्यूत-क्रीड़ा अर्थात् जूआ खेलने का काम मनुष्यों का नहीं। इससे धन, कर्म और इज्जत चौपट हो जाते हैं। खैर, जो हुआ सो हुआ। 'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेउ।' तुम और कौरव परस्पर भाई-भाई हो। यदि राज्य उनके पास रहे तो इसमें हानि ही कौन सी है ? राज्य के कारण अचानक आने वाली कितनी ही आपदाओं से अनायास ही तुम्हें छुट्टी मिल जाती है। किन्तु हां! तुम्हारे भरण-पोषण के लिये मैं प्रयत्न करूंगा कि वे कम से कम पांच गाव तो तुम्हे अवश्य ही दे दें।"

तब तो वे स्वय ही मध्यस्थ बन कर कौरवों के निकट गये और पाण्डवों को कम-से-कम पाच गाव दे देने की बात छेड़ी। इस पर वे लोग खूब ही बिगडे और बोले—

"पाच गाव कहते किसे हैं ? बिना युद्ध के अब एक सूई की नोक के बराबर भी भूमि उन्हे मिल नहीं सकती। श्री कृष्ण इस मामले में समझते ही क्या हैं ?"

भीख नहीं, तलवार का जौहर

कौरवों का यह कमीना व्यवहार श्रीकृष्णचन्द्र को बड़ा ही

अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य करने चाहिये । उपवास, बेला, तेला आदि तप करने की परिस्थिति मे आपका पुरुषार्थ, आपकी आत्मशक्ति अवश्य लगती है, परन्तु इसमे जितना जोर नही लगता, उससे कई गुना अधिक शक्तिशाली संघर्ष कषाय का परित्याग करने के लिये करना पडता है । भगवान् महावीर ने तप के विविध प्रकार बताए हैं और प्रसंग आया तो बताने का प्रयास करूंगा कि इस तप का व्यापारिक क्षेत्र मे भी कैसे सफल प्रयोग किया जा सकता है तथा बदनाम व्यापार को पूर्णतया नैतिक आप कैसे बना सकते हैं ।

पुरुषार्थ को मूलत: भावनात्मक रूप से सद् बनाने के लिये तप के आभ्यन्तर प्रकारो का भी विशेष प्रयोग किया जाना चाहिये । क्रोध नही करने, किसी का दिल नही दुखाने, झूठ नही बोलने आदि के अमुक अवधि तक के नियम दिलाने की ओर सन्त-सतियो का, तो ऐसे नियम लेने की दृष्टि से आपका ध्यान भी आकर्षित होना चाहिये ।

सत्पुरुषार्थ की कठिन सीढ़ी-मानसिक तप :

कायिक तप की अपेक्षा भी मानसिक तप सत्पुरुषार्थ की अधिक कठिन सीढी होती है । कल रात को प्रश्नोत्तरी मे जिज्ञासु लोगो ने ऐसे ही प्रश्न पूछे थे और मानसिक तप की महत्ता समझ कर क्रोध न करने आदि के त्याग भी किये थे । प्रश्नोत्तरी के कार्यक्रम मे व्याख्यान सुनने वाले सभी भाई उपस्थित नही होते, क्योकि कई भाई सोच लेते हैं कि उन्होने व्याख्यान सुन लिया तो सब काम हो गया । परन्तु व्याख्यान सुनना तो शिक्षा है, उस पर सोचने से जिज्ञासा पैदा होती है और जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने से त्याग व्रतो को ग्रहण करने की अभिलाषा फलवती बनती है । असल काम तो तब होगा, जब त्याग किया जायगा ।

व्याख्यान सुनने से लेकर त्याग व्रत ग्रहण करने का सारा क्रम सत्-पुरुषार्थ का ही है, किन्तु मेरा आग्रह है कि व्रत ग्रहण मे मानसिक तपाराधन का दृष्टिकोण प्रमुख रहना चाहिये । वैसे बीकानेर, भीनासर, गगाशहर की जनता सत्पुरुषार्थ मे विशेष तत्पर रहती है— इसको ज्यादा उपदेश देने की जरूरत नही है । यहां भीनासर में आते ही कुछ व्याख्यान सुनने के बाद पचरगी तप चालू कर दिया गया है तो मेरे मन मे भी यहां के लोगो के सत्पुरुषार्थ की सराहना करने की भावना जरूर जागृत हुई है । एक बात जरूर है कि यहा मानसिक तप के प्रकारो का विशेष ज्ञान नही होने से अनशन आदि कायिक

एक दिन जब द्रौपदी सुख शैया पर बैठी हुई थी, नारदजी वहां आये। उसने उनका उचित सत्कार नहीं किया। इस पर नारदजी क्रोधित हो गये। वे उसी समय वहा से चल दिये और धात्री-खंड के अन्तर्गत 'अमर-कंखा' नामक राजधानी में पहुंचे। उन दिनों वहा का राजा 'पद्मनाभ' था। नारदजी ने उसे द्रौपदी का चित्रपट दिखलाया। उसकी सुन्दरता को देख राजा ने द्रौपदी को अपने राज-भवन में लाने का निश्चय किया। उसी समय अपने इष्ट देव का स्मरण किया, देव आये। राजा ने उनसे द्रौपदी को अपने राज-महल में ला देने की प्रार्थना की।

इस पर देव बोला—

"द्रौपदी को और तुम्हारे राजमहलों में ? उसे अपना सत्य-शील प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं। जिसे वह पाडवों को छोड़ किसी के हाथ नहीं बेच सकती। फिर भी तुम्हारे अनुनय के कारण मैं उसे यहां लिये आता हूं। परन्तु स्मरण रक्खो, कि वह बात की बात में अपने प्राणों को भले ही दे दे, परन्तु अपने सत्य-शील को तो खंडित कभी न करेगी।"

द्रौपदी का अपहरण

यूं कह वह देवता वहां से चल पड़े और 'हां' कहते में हस्तिनापुर जा पहुंचे। उस समय द्रौपदी एक पलग पर सोई हुई थी। उसे देव ने पलग समेत उठा लिया और अमरकंखा के बाग में जा उतरा। सूर्योदय के होते ही जब द्रौपदी जागी। अपने आपको तब उसने एक अपरिचित स्थान में देखा।

वह घबरा उठी और सोचने लगी—

सद्विवेक और सत्पुरुषार्थ का तालमेल यदि बराबर बैठता रहे तो वैचारिक धरातल की पुष्टि के साथ त्यागमय आचरण भी अभिवृद्ध होता रहेगा। इस स्तर पर पहुच कर आप अपनी शक्तियो का मूल्याकन करेंगे तो आत्म-विश्वास की मात्रा भी बढती जायगी। आत्म-विश्वास की विद्यमानता मे कितनी ही कठिनाइयां एव विपत्तिया आवे तब भी उनको पार करते हुए आत्मा आगे और आगे गतिशील बनी रह सकती है।

आन्तरिक शक्तियों का प्राभाविक स्वरूप :

जहा आत्मा की आन्तरिक शक्तिया प्रकाश मे आने लगती हैं तो फिर वे बाहर के वातावरण को भी प्रभावित किये बिना नही रहती। दमयन्ती के चरित्र मे आप सुन रहे हैं कि आन्तरिक शक्ति के साथ उसके बाहर के सब सकट गौण बन गये। इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यान मे लेने की बात है कि पुरुषार्थ की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से तथा जीवन विकास की दृष्टि से पुरुष और महिलाओ मे समान शक्ति है तथा उनके समान अधिकार हैं। शारीरिक क्षमता की दृष्टि से कदाचित् सामर्थ्य की समानता न हो, किन्तु यह भी पूर्व-जन्म के पुरुषार्थ का ही फल है। पुरुषार्थ की न्यूनाधिकता से ही नारी और पुरुष की देह मिलती है। यह विधि विधान किसी अन्य का बनाया हुआ नही, स्वय अपनी ही आत्मा द्वारा निर्मित है। परन्तु जहा तक कर्त्तव्य पालन एव त्याग व्रत ग्रहण करने का प्रश्न है—नारी और पुरुष की योग्यताओ मे कोई अन्तर नही है तथा उस योग्यता को विकास की चरम स्थिति तक पहुचाने की शक्ति मे भी दोनो मे कोई अन्तर नही है।

नारी जाति का पुरुषार्थ पुरुषो से कम नही होता, बल्कि इतिहास के कई उदाहरण ऐसे हैं कि जब नारियो ने पुरुषों से भी अधिक पराक्रम का प्रदर्शन किया। इस बिन्दु पर मैं पुरुषो से कह सकता हू कि अगर वे महिलाओ के पुरुषार्थ से भी पिछड जाते हैं तो उनका पुरुष नाम विचारणीय बन जाता है। आज देखें तो महिलाए सर्वत्र पुरुषार्थ मे रत दिखाई देती हैं और वे पुरुषो का नेतृत्व करने लगी हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी बहिनो ने जो सत्-पुरुषार्थ चालू किया है, उससे वे अत्र पर्दे के पीछे ही बैठने वाली न रहकर सिहनियो की तरह गर्जना करने वाली बन रही है। ये पुण्यवती सतिया जो बैठी हुई हैं, महावीर भगवान् के शासन को दिपाने मे कितना सत्पुरुषार्थ कर रही हैं।

जीवन को विकारो की मलिनता से निकाल कर यदि परम निर्मलता उसे अनुगामी बनाना है तो सद्विवेक के साथ सत्पुरुषार्थ सक्रिय बन जाना जिससे आन्तरिक शक्तियो का प्राभाविक स्वरूप प्रकाश मे आ सके और स्वय को स्वय के द्वारा नमस्करणीय बना सके।

☸

पाया, अड़ोस-पड़ोस के जलाशयों को ढुंढवाया, पहाड़ और वन-प्रदेशों की गली-गली ढुंढवा डाली, परन्तु द्रौपदी का कहीं-कोई पता न चला। जब सारे प्रयत्न सिर से पैर तक एकदम बेकार हो गये। तब पाण्डवों की माता कुन्तीदेवी अपने भतीजे श्रीकृष्णचन्द्र के पास पहुंची। द्रौपदी के महलों से अचानक गायब हो जाने की सारी बात उन्हें कही। इस पर श्रीकृष्ण ने उसे ढाढ़स बंधाया, और कहा—

"भुआजी! अब आप निश्चिन्त हो रहिये। द्रौपदी को ढूंढ कर अभी मैं लाता हूं।"

इतने ही में नारदजी श्रीकृष्णचन्द्रजी के पास आये। श्रीकृष्ण-चन्द्रजी ने उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम करके पूछा—

"ऋषिवर! आपकी गति सर्वत्र है। कहीं द्रौपदी को भी आपने देखा है?"

"हां! उसी के समान एक स्त्री को मैंने धात्री-खंड के अमर-कंका नामक नगर में देखा है।"

"क्या इस में आपकी तो कोई करामात नहीं हुई?"

श्रीकृष्ण : धात्री खंड में

इस पर नारदजी हंस कर वहां से चलते बने। श्रीकृष्ण नारदजी के मन की ताड़ गये। उसी समय श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को अपने साथ लिया और लवण-समुद्र के किनारे पर आकर 'लवणाधि' नामक देवता की आराधना आरम्भ की। उनकी आन्तरिक आराधना से देव ने तत्काल ही प्रसन्न होकर समुद्र का मार्ग उनके लिए खोल दिया। उसी समय पाण्डवों को साथ ले श्रीकृष्ण ने समुद्र को पार किया और अमरकंका के पास जा पहुंचे।

लागू होता है। भावी जीवन का अवसर तो आगे आता है और उसकी भी जड इसी जीवन मे लगती है। इस जीवन मे यदि शान्ति का प्रादुर्भाव कर लिया तो आगामी जीवन अवश्य ही शान्ति हेतु सुरक्षित हो जायगा।

शान्ति यद्यपि अदृश्य तत्त्व के साथ प्रार्थना के माध्यम से प्राप्त होती है, परन्तु अदृश्य वह दृश्य है जो स्वय के अन्दर है और पर को भी वह उससे देख सकता है। शान्ति के इस प्रकार अन्दर और बाहर प्रसारित होने के लिये अनुकूल वायुमण्डल की आवश्यकता होती है।

अशान्ति की जननी—विषमता :

आज इस विश्व मे जो कुछ भी देखने को मिल रहा है, वह अधिकांशत. शान्ति के स्वरूप के प्रतिकूल है। चारो ओर अशान्ति इस तरह व्याप्त है कि शान्ति की अनुभूति कठिन बनी हुई है। शान्ति के बाधक तत्त्व सक्रिय हैं और जिधर देखें उधर अशान्ति की कारणभूत विषमता की ज्वालाए धू-धू करके जल रही हैं। इस विषमता का विरोध भी है तथा इसे मिटाने के प्रयत्न भी चालू हैं। किन्तु इस दिशा मे सफलता कितनी मिल रही है—इस के लिये बाह्य दृष्टि के साथ अन्तरावलोकन भी अनिवार्य है।

विषमता की ये ज्वालाए आज या कल से नहीं, प्राचीन काल से सुलग रही हैं। आदिकाल से यह अवस्था है तभी तो समता का आदर्श उभर कर सामने आता रहा है और समय-समय पर तीर्थंकरों, ऋषि-महर्षियो एव अवतारी पुरुषो ने अपने दिव्य चिन्तन से विषमता से सफल सघर्ष करने का ससार को मार्ग दिखाया है। उन दार्शनिक विचारो की देन अमूल्य है किन्तु विश्व उन्हे सम्हाल नही पाया है। कारण स्पष्ट है—मनुष्य ने महापुरुषो की देन को अपनी आन्तरिकता से एकमेक नही बनाई। उन दार्शनिक विचारो को यदि वह अपनी अन्तरानुभूति मे रमा लेता तो आज विषमता का रूप इतना भयावह नही बनता। वह विषमता का अन्त ही कर डालता।

आधुनिक युग मे विषमता जितनी गहरी बनी हुई है, उतनी ही तीव्रता से शान्ति का स्वर गूंज रहा है। समाज मे जो जिस अवस्था में है, वह अन्तर्नाद के साथ महसूस कर रहा है कि उसे शान्ति की सांस मिले। व्यक्ति ने अपनी शक्ति के अनुसार परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मे शान्ति-प्रसार का यथाशक्य प्रयत्न किया है, परन्तु चिन्तन का विषय यही है कि ऐसे प्रयत्न सफल क्यो नही हुए—अब भी क्यो नहीं हो रहे हैं?

उस का इस तरह भक्षक बनता है ? राजा प्रजा का पिता कहलाता है। परन्तु तू तो गली के कुत्ते की भांति पराई नारियों को, पराई मां को और वहिनों को पाप की निगाहों से ताकता फिरता है। पापी! क्या यह तेरा सब से पहला धर्म और कर्त्तव्य नहीं है कि पराई मा, बहिन पत्नियों और बालिकाओं को तू अपनी मा, बहिन और बालिकाएं समझे ? नराधम! तू आततायी है, अन्यायी है। तेरा अपराध अक्षम्य है। फिर भी तू शरण में आया है। शरणागत को मारना तो और भी पाप है। यही सोच कर मैं तुझे क्षमा करता हूं और अभयदान देता हूं।"

असंभव, संभव नहीं

यूं उसे प्राण-दान दे द्रौपदी को साथ लिये पांडवों समेत श्रीकृष्ण शंखनाद करते हुए लौट रहे थे। उसी समय उन के शख की ध्वनि उसी खड के 'कम्पिल' वासुदेव के कानों में पडी। उस ने भगवान् 'मुनिसुव्रत' से पूछा—

"भगवान्! यह शख को बजाने वाला दूसरा कौन प्रकट हुआ है ?"

उत्तर में भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी ने कहा—

"तुम्हारे ही अधीनस्थ राजा पद्मनाभ ने जम्बूद्वीप के भरतखंड से द्रौपदी को हरण करवा के मंगवा ली थी। उसी द्रौपदी को लेने के लिये वहा के वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र यहां आये हुए थे, उसी को लेकर वे वापिस लौटे और यह शख ध्वनि भी उन्होंने की।"

"भगवान्! मैं उनसे मिलने के लिये जाना चाहता हूं।" कम्पिल वासुदेव ने उत्सुकता प्रगट की।

सामान्य रूप से समता की यह व्याख्या की जा सकती है कि यथास्थान, यथा-योग्य गुण और कर्म के साथ मानव-साम्य का मूल्यांकन करना समता है जिसका विस्तार समस्त प्राणिवर्ग तक किया जायगा। समता का अर्थ है आत्मिक दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को समभाव से निहारने का प्रयास करना। कहा भी है —

"सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहिया सवस्स दतस्स, पाव कम्मं न बंधई॥"

इस सृष्टि के अन्दर रहने वाली जितनी आत्माएं हैं, उन सभी आत्माओं को अपनी स्वय की आत्मा के तुल्य समझना और जो स्वय के लिये वाछनीय है, उसे अन्य के लिये भी सुलभ बनाना—यह चिन्तन और व्यवहार का विषय बने। समतादर्शन की यही सामान्य व्याख्या है और उसका यही संक्षिप्त तात्पर्य है।

गीता मे भी पंडित की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

"विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥"

अर्थात् सच्चा पडित वही है जो समदर्शी होता है। सभी प्राणियों मे सत्-चित् और आनन्द रूप आत्म-तत्त्व रहा हुआ है, उसी आत्म-तत्त्व को यथास्थान देखने की कोशिश की जानी चाहिये। विद्वान्, गाय और श्वान के प्रति समदर्शी होने का यही अर्थ है कि वर्तमान पर्याय के साथ जो जिस रूप मे है, उसको उसी रूप मे समझा जाए परन्तु इसके मूल मे आत्म-शक्ति की एकरूपता सदा ध्यान मे रखी जाए। इस धरातल पर चिन्तन किया जाए कि प्रत्येक आत्मा में दिव्य स्वरूप छिपा हुआ है। वह किसके साथ विषमता का व्यवहार करे, कौन उसके सामने विषम व्यवहार करने के योग्य है—जब आत्म-साम्य की दृष्टि से कोई इन प्रश्नो पर विचार करेगा तो वह यही निर्णय लेगा कि दूसरे के साथ किया जाने वाला विषम व्यवहार उसके साथ नहीं लेकिन स्वय के साथ है। समतादर्शन की यही मूल अनुभूति होती है और जब यह जीवन के व्यवहार मे उतरती है तो मनुष्य के मन-मस्तिष्क का एव उसके साथ-साथ उसके आचरण का परिमार्जन होने लगता है। समतादर्शन के धरातल

पांडवों के इस उत्तर को सुनकर श्रीकृष्ण को रोष आगया। वे बोले —

"क्या तुम लोगों ने वहां समर-भूमि में मेरे बल को नहीं देखा था ? अच्छा लो न सही ,अब देख लो ।"

इसके पश्चात् श्रीकृष्णजी पांडवों पर मुष्टि प्रहार करने के लिये उद्यत हुए।

श्रीकृष्ण 'भागीरथ' बने

उसी समय द्रौपदी ने बीच में पड कर प्रार्थना की—

"प्रभु ! यह आप क्या करते हैं ? आखिरकार ये लोग हैं तो आप ही के न ? आप क्षमाशील हैं। इन्हें क्षमा कीजिये।"

"मैं करता भी क्या ? मेरे बल ही की ये लोग परीक्षा लेना चाहते हैं, तब तो इनकी बात मान कर मुझे भी अपना बल उन्हें दिखा देना चाहिये।" श्रीकृष्ण ने कहा।

"महाराज ! अपने इस क्रोध को आप अपने इस रथ ही पर उतार दीजिये। इनकी इस बार तो आप रक्षा कीजिये।" द्रौपदी बोली।

इस पर श्रीकृष्णजी ने वैसा ही किया। उनके एक ही मुष्टि प्रहार से वह सुदृढ रथ चूर-चूर हो गया। उसी समय से श्रीकृष्ण 'भागीरथ' के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।

अन्त में श्रीकृष्ण ने पांडवों को आज्ञा दी कि 'अब तुम लोग मेरी अदृष्ट सेवा में रहा करो।' उन्हीं दिनों पांडवों ने 'पाडव-मथुरा' की नींव डाली और वहीं वे सब लोग रहने भी लगे।

पांडव : संयम-साधना की ओर

एक वार 'मुनिश्री धर्मघोष' महाराज विचरण करते-करते

उठना चाहिये। यह कार्य समूचे मानव समाज का सामूहिक कार्य माना जाना चाहिये।

धरातल-निर्माण का यह कार्य है समता के दार्शनिक एवं व्यावहारिक रूपो के आधार पर समस्त मानवो मे समान आत्मीय भावना का दर्शन करना। इस धरातल को तैयार करने में मैंने २१ सूत्रीय योजना बनाई है जिसका उल्लेख अभी ही प्रकाशित "समता : दर्शन और व्यवहार" नामक ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है। इस योजना पर व्यवहार के साथ उसमे तीन चरणो का भी उल्लेख किया गया है। समता दर्शन को व्यवहार मे उतारने का जो आस्थावान समर्थक है, वह पहले चरण मे समतावादी कहलायगा। वह समता दर्शन के ऊपर अपने मस्तिष्क की समस्त ग्रन्थियो को खोल कर दृढ विश्वास करे और तदनुसार दूसरे चरण में समताधारी समता के सम्पूर्ण व्यवहार को अपने जीवन मे क्रियान्वित करना आरम्भ करे। ऐसा समताधारी समता को अपने विचार और आचार में रमा लेता है तो वैसा ही सर्वत्र देखने की उत्कट अभिलाषा भी बना लेता है। जीवन में समानता की स्थितियो के निर्माण के साथ तीसरे चरण में वह समता-दर्शी का भव्य स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

जीवन में जब समता यो रम जाय तो फिर उस व्यक्ति को अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में विषमता के दर्शन नही होगे क्योकि वह समतादर्शी के नाते अपने जीवन के अनुरूप समता को सर्वत्र सर्वव्यापी बनाना चाहेगा।

गुण और कर्म की दृष्टि से वर्गीकरण :

आज मानव जाति विषमता भरे जिन टुकडों में बटी हुई है, वे अधिकाधिक विषमता की सृष्टि कर रहे हैं। मानव मे विकास की तारतम्यता की दृष्टि से गुण और कर्म के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है और यह वर्गीकरण समता के धरातल पर होने से विकास का प्रेरक बन जायगा। मैं तो यह सोच रहा हूं, बल्कि स्वप्न सा ही देख रहा हू - चाहे उसे दिवा-स्वप्न ही कहिये कि सामाजिक धरातल पर जितने भी भेद हैं, राष्ट्रीय स्तर पर जितने भी अलगाव हैं और विश्व की भूमिका पर विकास की जितनी भी बाधाएं हैं, उन सबको समता के तीन चरणों मे समाप्त कर सकते हैं।

यह गुण और कर्म की दृष्टि से वर्गीकरण होगा कि पहले समता-के धरातल पर समतावादी के वर्ग की रचना हो। समतावादी अपनी

महासती द्रौपदी ने भी सुव्रताजी आर्या के निकट दीक्षा धारण की थी। थोडे ही काल में उसने भी शास्त्रों के तत्व-ज्ञान का अच्छा सम्पादन कर लिया था। वह भी अन्त में समाधि को धारण करके बारहवें स्वर्ग में सिधार गई।

सच है ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस जगत् में कोई दूसरी नहीं। उसे पा लेने पर मोक्ष-जैसी महान् कठिन वस्तु तक सुलभ से सुलभ हो जाती है। इसलिए प्रत्येक नर-नारी का परम-धर्म और श्रेष्ठ कर्त्तव्य है कि 'वह ज्ञान सम्पादन के लिए अपने पूरे—पूरे बल से जुट पडे।'

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पांडवों का कुछ पूर्व परिचय दो।

[२] कौरवों के उदाहरण से सिद्ध करो कि "आखिरकार अन्धों सन्तानें अन्धी ही तो होती हैं।"

[३] द्रौपदी के उदाहरण से बताओ कि "हंसी का दुष्परिणाम होता है।"

[४ [जूए से होने वाली हानियों का वर्णन उदाहरण देकर करो।

[५] 'आततताइयों और अन्याइयों के साथ नीतिमत्ता और सदाचार का व्यवहार करना निरी मूर्खता और भोंदूपन ही नहीं, वरन् घोर पाप भी है। जिसका प्रायश्चित सर्वस्व को हाथों से खोकर और प्राण-घातक अपमान को सहते हुए करना पड़ता है।' इस कथन को समझाओ और इस की पुष्टि का प्रमाण भी दो।

[६] 'बडों का अनादर कर ने से कैसी-कैसी विपत्तियां सहनी पड़ती है ?' द्रौपदी के उदाहरण से इस कथन की पुष्टि करो।

[७] बताओ कि 'ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस जगत में कोई दूसरी नहीं है।'

कर्त्तव्य परायणता का विस्तार होना चाहिये । यह लक्ष्य जब स्थिर होगा तो व्यक्ति के चहुमुखी प्रयास प्रारम्भ हो जायगे । वह सम-भाव से अपने जीवन को सवारेगा तो सम-दृष्टि बनकर परिवार को समता के साचे मे ढालेगा । परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र के विस्तृत क्षेत्रो मे जब समता का आचरणगत प्रयोग किया जायगा तो फिर विषमता न भीतर बचेगी और न बाहर दिखाई देगी । समता की वही शक्ति तब विश्व मे शान्ति के निर्मल प्रवाह के रूप मे प्रवाहित होने लगेगी क्योकि समता ही शान्ति की सच्ची सहचरी होती है ।

समता और शान्ति लाने के प्रयत्नो मे कौन, कितना, क्या करे, किस स्थान पर कौन पहुचे तथा कौन से धरातल पर क्या सोचा और किया जाय— इनके समाधान के लिये व्यक्ति और समाज दोनों को एक साथ यत्नशील होने की आवश्यकता है । व्यक्ति और विश्व एक ही क्रम के दो छोर हैं । व्यक्ति के जीवन से प्रारम्भ हुई समता विश्व शान्ति के रूप मे विकसित होती है । आप जानते हैं कि व्यक्ति का सम्बन्ध परिवार से, परिवार का समाज से, समाज का राष्ट्र से और राष्ट्र का सम्बन्ध समूचे विश्व से होता है । एक दूसरे की कडिया एक दूसरे की कडियो से जुडी हुई होती हैं । कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरी कडियां सर्वथा पृथक् है तो उसका यह सोचना भूल भरा होगा। स्वार्थान्ध व्यक्ति इन पारस्परिक सम्वन्धो को न आक सके यह दूसरी बात है, किन्तु जब स्वार्थ की पीली नजर हटे तब साफ दिखाई देगा कि इन्ही पारस्परिक सम्बन्धो के स्वस्थ निर्वाह मे व्यक्ति से लेकर विश्व का विकास रहा हुआ है ।

भगवान् महावीर ने एक ओर जहा श्रुत और चारित्र्य धर्म के रूप मे आध्यात्मिकता का मार्गदर्शन किया है तो दूसरी ओर उससे भी पहले ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, संघ-धर्म, गण-धर्म आदि के रूप मे मनुष्य के विविध कर्त्तव्यो का निर्धारण किया । इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य मूल की भूल को निकाले और भीतर से लेकर वाहर तक विषमता का अन्त करके सम्पूर्ण विश्व के साथ समता के समन्वयात्मक सम्बन्ध स्थापित करे ।

आध्यात्मिकता सर्वत्र समता की वाहिका :

कोई आध्यात्मिक दृष्टि से साधक है तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि वह विभिन्न क्षेत्रो मे समता का प्रसार करने से उपेक्षित वन जाय । आध्यात्मिक साधना भी मानव समाज के बीच रहते हुए ही सफलतापूर्वक सम्पन्न की जा सकेगी । यह ठीक है कि आध्यात्मिक साधक की मर्यादाए जीवन को विशेष

दधिवाहन पर आये दिनों धावा बोल दिया। दधिवाहन ने मुकाबिला भी उस का अपने बल-भर किया। आखिरकार रणक्षेत्र में ठहर भी कब तक सकता था? क्योंकि युद्ध की पूर्व तैयारी उसकी कोई थी नहीं। अन्त में दधिवाहन के पैर उखड़ गये और वह वहा से भाग निकला। ज्योंही यह खबर शतानिक को मिली, उसने शहर में लूट मचवा दी। उसी लूट में एक पायक राज-महलों में घुस गया। रानी तथा चन्दनबाला को अपने अधिकार में कर लिया। तब उसने उन दोनों को एक रथ में बिठा दिया और वहां से भाग निकला। मार्ग में सारथी की नीयत बिगड़ गई। वह रानी की ओर कुभावना पूर्ण दृष्टि से तकने लगा। उस समय कई प्रकार के कुवचन भी उसने रानी से कहे। बदले में अनेकों फटकारें भी रानी ने उसे सुनाईं। दुर्दिन की मारी रानी के पास बचाव का और कोई साधन भी तो नहीं था। अब पापी पायक ने रानी की एकमात्र बची हुई इज्जत को धूल में मिला देने का अपने मन में पक्का इरादा कर लिया। उसने उसकी ओर हाथ बढ़ाया ही था कि इतने ही में अपने शील-धर्म को अक्षुण्ण रखने के लिए रानी को एक अनुपम सूझ सूझी। उसी समय उसने अपनी जबान को दांतों तले इतने जोर से दबाया कि अपने प्राणों की बाजी बात-की-बात में उसने लगा दी। पापी पायक हाथ पटक-पटक कर रह गया, परन्तु सिर धुनने और छाती पीटने के सिवा उस के हाथ और कुछ न लगा।

महारानी धारिणी! तुम्हें सैकड़ों बार धन्यवाद है। इस नश्वर जगत् में आकर एक-न-एक दिन सभी को जाना पड़ता है। परन्तु तुमने तो मर कर के भी अमरत्व का अनुपम पाठ महिला-जगत को पढाया। तुमने अपने शील-धर्म को अपने प्राणों से भी कहीं बढ कर समझा। मां! तुम जैसी वीर-ललनाओं और धर्म-प्राण महिलाओं

घड़ी के भीतरी यंत्र भी सही हैं और उसमें भीतरी और बाहरी एकरूपता भी है। एकता, समता और शान्ति की योजना का रूपक घडी से सीखा जा सकता है।

घड़ी के अको, कांटों और भीतरी यन्त्रो के समान ही यदि मानव समाज मे समभाव और समता व्यवहार का विस्तार हो तो समता शाति और मानव मात्र की एकता के प्रत्यक्ष दर्शन दूर नही रहेंगे। अको के मूल्य की तरह ही मानव का उनके कर्म और गुणो के आधार पर मूल्याकन एव वर्गी-करण करना होगा। जिस प्रकार कांटे, बिना किसी भेद के, सभी अको के पास स्वाभाविक गति और समभाव से पहुचते रहते हैं उसी प्रकार मानव का एक स्थान या दल या अनुशासनहीन समूह विशेष से पक्षपातपूर्ण लगाव न रह कर, सभी के साथ समतामय अनुशासन और व्यवहार की स्थापना करनी होगी और जिस प्रकार घडी के बाहर और भीतर की एकरूपता है उसी प्रकार मानव के बाहरी कथन और कार्यों के साथ उसके अन्तर मन की एकरूपता भी आवश्यक है।

आप सोचिये कि घडी के इन अको और कांटों का सम्बन्ध किनसे है ? निश्चय ही इनका सम्बन्ध भीतरी यंत्रो से है। घडी के भीतरी यत्रो के दांतेदार पहिये अगर समता से एक दूसरे मे रल-मिलकर चलते रहते हैं तो कही कोई व्यवधान नही आता है और सही समय प्रदर्शित होता रहता है। किन्तु अगर वे पहिये विषम बनकर आपस मे टकरा जाय, उनकी गति अवरुद्ध हो जाय और बाहरी कांटो को घुमाने का कितना ही प्रयास किया जाय तो क्या घड़ी चल सकेगी ? ये बाहर के कांटें स्वतः नही घूमते हैं—भीतर के यत्र इन्हे घुमाते हैं। इसी तरह इन्सान के जीवन मे सच्चे विकास के लिये भीतरी और बाहरी एकरूपता आवश्यक है—समता की समरसता अनिवार्य है जो समभाव एव सम-व्यवस्था के चक्रो पर गतिशील एवं प्रगतिशील बनती है।

प्रकाश आता है तो अन्धकार नही टिक सकता है। प्रकाश के अभाव मे ही अन्धकार की कालिमा स्थित रहती है। विपमता तभी तक है जब तक समता का उदय नहीं होता। प्रकाश की एक किरण जैसे गहन अन्धकार को भेद देती है, वैसे समता की दिशा मे गति का आरम्भ ही विपमता को हिला देगा। इसी दृष्टिकोण से जो कुछ भी समतादर्शन एव व्यवहार की कुछ बातें मैं कर्त्तव्य-दृष्टि से समय-समय पर रखता हू, मेरा आग्रह है कि उन्हे प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तिष्क एव हृदय की कसौटी पर कसे और पाच व पाच=दस

पायक की स्त्री ने चन्दनबाला के सुप्त-सौन्दर्य को शकित होकर ऊपर से नीचे तक एक बारगी देखा। 'नारियां अबलाएं' कहलाती हैं। इसी नाते उस का हृदय भी कभी-कभी बड़ा ही निर्बल बन जाता है। फिर निर्बलता पाप है। उस समय जो भी अन्याय और अत्याचार उस निर्बल हृदय से न हो जायें, वे सब थोडे ही हैं। उसी निर्बलता ने पायक की स्त्री को सहसा सशक कर दिया। वह मन ही मन सोचने लगी—

"सम्भव है, एक-न-एक दिन इस के सुप्त-सौन्दर्य के जाग उठने पर मेरा पति अपना हृदय सदा के लिए इसे दे दे। उस दिन मेरी कैसी दुर्दशा होगी ? नहीं कहा जा सकता। अत. पानी आने के पहले ही पाल क्यों न बांध लेना चाहिए ?"

यह सोचकर उस ने अपने पति के सामने एक प्रस्ताव पेश किया—

"यदि इसे आप अपने साथ घर में लाये तो मैं आप तक को घर में पैर न रखने दूगी। पर-नारी पैनी छुरी कहलाती है। न जाने इस के कारण कब और कौन सी अचानक घटना इस घर पर आये दिनों घट जाये ? जिस से मेरा सोने का घर राख में बदल जाये।"

चन्दनबाला : बाजार में

चन्दनबाला के भाग्य में अभी दु ख बदा था। अत पायक की स्त्री का मूल प्रस्ताव बिना किसी सशोधन के पास हो गया। तब तो पायक बेचारा उसे बीच बाजार में लाकर बेच देने पर उतारू हुआ। खरीददार इकट्ठे हुए। बोलिया लगीं। खरीदने वालों के थोक में से एक वेश्या भी थी। उसके अध-खिले सौन्दर्य को देख कर उस के द्वारा थोडे ही समय में अटूट धन-राशि को कमा लेने की धुन का भूत

विचार और आचार में समाविष्ट कर लेनी चाहिये। प्रार्थना के माध्यम से परमात्मा के चरणो मे जो इस रूप के साथ शान्ति की साधना करने का प्रयास करते है, वे एक दिन उस आदर्श को अपने अन्तर्जीवन मे समा कर स्वयं परमात्म–स्वरूप का वरण कर लेते हैं।

विचार मे सापेक्षवाद एव आचार मे अहिंसा के शुद्ध प्रणिधान के साथ समतादर्शन एवं सम–व्यवहार के अंकुरो का सिंचन किया जा सकता है। अहिंसामय आचरण के सम्बन्ध मे भी विशेष प्रयास किये जाने चाहिये और पशु–बलि निषेध विधेयक को पारित कराने या अन्य प्रकार से विविध उपायो को कार्यान्वित करने की ओर मैं राजस्थान–मत्री वैद जी का ही नही, सभी का ध्यान खीचता हूं। सर्वतोमुखी जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की कला ही समता का मूल अग है। ममत्व से समत्व की ओर अग्रसर बनना है—यही जीवन का सूत्र है। मानव इसी सूत्र को पकड कर शान्ति एव सत्य के महान् रहस्यो की खोज करे—यही मेरी शुभ–कामना है।

गंगाशहर–भीनासर

दि० २–१२–७३

ने उस को आपबीती सारी बातें बता कर अपनी रकम वापस चाही और चन्दनबाला को उस के हाथ सौंप दी।

चन्दनबाला : धर्म-पुत्री के रूप में

विवश हो कर पायक उसे दूसरे बाजार में ले गया। वहां उस ने उस के लिए पाच सौ स्वर्ण-मुद्राओं की बोली लगाई। भाग्य से उसी क्षण 'धनावह' नाम का एक उदार-चरित, दानी और धर्मात्मा सेठ उधर आ निकला। चन्दनबाला की निर्दोष और भोली-भाली सूरत को देख कर उस के दिल में दया का एक तूफान आ गया। उसी समय पायक को पाच सौ मुहरें उस ने गिन दीं और चन्दनबाला को पुत्री मान कर खरीद लिया। चलते हुए चन्दनबाला ने पूछा—

"पिताजी! अपने घर पर आप मुझ से कौनसा कार्य लेंगे?"

इस पर धनावह बोला

"ऐ धर्माचारिणी! मेरे घर में कोई पुत्री नहीं है। अत मैं तुझे अपनी पुत्री कर के मानू गा। तेरा भी कर्त्तव्य है कि तू भी मेरे घर पर पहुच कर जितने भी धार्मिक कार्य वहा होते रहें, उन में पूरा-पूरा अपना हाथ बटाती रह"

इन शब्दों को सुन कर चन्दनबाला का चित्त नाच उठा और उसके साथ वह होली। दोनों घर पर पहुचे।

सेठ ने सेठानी 'मूला' से चन्दनबाला को खरीद कर लाने और उस के साथ पुत्री जैसा बर्ताव करने की सारी बातें कह सुनाईं। परन्तु चन्दनबाला के सुप्त सौन्दर्य को सिर से पैर तक देख कर मूला के मन मे बड़ी ही उथल-पुथल मच गई।

मूला का मन शूला

वह मन ही मन कहने लगी—

शास्त्रीय वचनों का प्रयोजन :

शास्त्र के दृष्टिकोण है, विषय नहीं हैं। शास्त्रीय वचन महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य दृष्टिकोण लिये हुए हैं। जब एक साधारण व्यक्ति भी अपने मुंह से कोई वचन निकालता है तथा उसका प्रचार करता है तो उसके पीछे भी एक प्रयोजन होता है। चाहे वह प्रयोजन अधिक महत्त्व का हो, कम महत्त्व का हो अथवा महत्त्वहीन हो—किन्तु बिना प्रयोजन के कोई भी शब्द नहीं निकलता है। एक शब्द के उच्चारण का ही प्रश्न नहीं है, मनुष्य की समस्त क्रियाए-प्रक्रियाए भी बिना प्रयोजन के नहीं होतीं। एक व्यक्ति किसी भी तरफ देखता है तो उसका यह प्रयोजन होता है कि सामने वाले की क्या विशिष्टता है किसी को सुनता है तो इस प्रयोजन से कि उसकी बात उसके लिये कितनी हितकर है ? उसका प्रयोजन सार्थक लगता है तो वह स्थिर चित्त होकर उस बात को सुनता है। किसी के दर्शन और श्रवण के लिये वह अपनी गति को भी उस ओर मोडता है। उसकी प्रत्येक क्रिया प्रयोजनपूर्ण होती है।

मनुष्य की ही नही, प्रत्येक पशु-पक्षी एव कीट-कीटाणु की गति भी प्रयोजनपूर्ण होती है। वे भी अपने प्रयोजन के अनुरूप हलन-चलन करते हैं। उनका विचार-उच्चार मनुष्यो के तरीको के अनुसार नही होता, परन्तु यथा-योग्य सोचने की शक्ति तो उनमें भी होती है। चाहे छोटे से छोटा रेंगने वाला कीडा भी क्यों न हो, वह भी तत्क्षण तात्कालिक संज्ञा की पूर्ति के लिये इधर से उधर परिभ्रमण करता है। गर्मी लगती है तो वह छाया मे सरकता है और छाया से धूप मे जाता है। वह चखने योग्य पदार्थों की तलाश मे घूमता है। यह भी उसका स्वनिर्वाह एव स्वरक्षा का प्रयोजन होता है।

इसी प्रकार तुच्छ से लेकर महत्त्व के प्रयोजनों को अपनी कृति मे उतारने की शक्ति प्रत्येक मानव के मन और मस्तिष्क मे रही हुई है। उसकी वह फल-श्रुति भी देखना चाहता है। जहा साधारण मनुष्यो का प्रसग है, वे भी जब आध्यात्मिक जीवन की शक्ति का प्रयोजनपूर्ण सकल्प लेते हैं तो वे भी आन्तरिक शान्ति की खोज मे निरत बन सकते हैं। शास्त्रीय वचनों का यही प्रयोजन है कि साधारण से साधारण मनुष्य भी यदि उच्चतम प्रयोजन को धारण करके गति करे तो वह सर्वोच्च आत्मिक विकास को साध सकता है।

शान्ति-लाभ की जिज्ञासा :

शान्ति की खोज मे भी मनुष्य मुख्य प्रयोजन को देखकर ही चलेगा।

वार सेठ ने स्वयं ही उस के वालों को हटा कर दूर कर दिया। मूला ने दबे-छिपेरूप से इस घटना को कहीं से देख लिया। अब तो चन्दनवाला के द्वारा उस का स्थान छिन जाने की धारणा और भी पक्की हो गई। उस ने मन-ही-मन कहा—"मैं अब ऐसा ही उपाय क्यों न करूं ? जिससे सदा के लिए इस का पाप ही कट जाए।"

उस क्षण के बाद मूला और भी चौगुनी सतर्क होकर रहने लगी। वह प्रति क्षण यही सोचती रहती थी कि 'किस तरह चन्दन-वाला को जल्दी-से-जल्दी ठिकाने लगा दिया जाय ?'

चन्दनवाला : संकट में

"जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।"

एक दिन धनावह किसी गाव को गए। उस समय को मूला ने अपने मनसूबों को फलने का सब से अच्छा अवसर जाना। बस, तब देर थी ही किस बात की ? दास-दासियों को हुक्म दिया गया। वेचारी चन्दनवाला को पकडवा कर सामने बुलवाया गया। महिला-जगत् की महिमा का मुख्य अश उस के वालों में छिपा रहता है। वह प्रकृति-जात सौंन्दर्य चन्दनवाला से आज वात-की बात में छीन लिया गया। उस का सारा सिर मुडवा दिया गया। हाथों में हथकड़ियां और पैरों में वेड़िया डलवा दी गईं और लंहगे का कच्छ लगाकर मकान के सब से नीचे के अन्धेरे कमरे में उसे पटकवा दी गई।

चन्दनवाला ने लाख सिर पटका, चिल्लाया, "मा ! जरा मानव धर्म को तो पहचान" की पुकार लगाई। परन्तु धनावह की गैर-मौजूदगी में आज उस का वहा था ही कौन ? जो उस की पुकार को सुनता ? उस की गीली आखों को सुखाता ? मूला के मन में उसे भूंज देने के लिए ईर्ष्या की प्रचन्ड आग धधक रही थी और वह भी एक

ही तथा प्रयास कठिन हो।' कल्पना करें, कोई ज्योतिषी आपको बतावे कि खण्डहर के रूप में पड़े एक पुराने मकान के गन्दगी और कूडे-कर्कट भरे चौक के नीचे एक बर्तन मे चिन्तामणि रत्नों का ढेर दबा हुआ है तो क्या आप उस खण्डहर के पास जायेंगे या नही ? उस गन्दगी की दुर्गन्ध से घबरा कर आप भाग खड होगे या उस गन्दगी को अपने ही हाथो से हटाने का प्रयास करेंगे ? मैं सोचता हू कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसे समय मे केवल चिन्तामणि रत्नो का ध्यान रखेगा। वह गन्दगी को पसन्द नहीं करेगा, किन्तु उससे घृणा भी नही करेगा क्योंकि वह जानता है कि इस गन्दगी को हटाने पर ही रत्नो की प्राप्ति होगी। वह गन्दगी, पत्थर आदि सारे कूडे-कर्कट को हटायगा तथा यह सब काम बिना दूसरो को जतलाए चुपचाप करेगा। यह सब इसलिये होता है कि चिन्तामणि रत्नों की निधि प्राप्त करने का उसका प्रयोजन पक्का बन जाता है, तब वह उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थपूर्ण प्रयास करता है।

भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त करके भौतिक-सुख के लिये भी जब प्रयोजन और पुरुषार्थ सुनिश्चित हो सकते हैं तो यह सम्पत्ति तो सीमित होती है तथा इसका सुख भी परिमित होता है। यह भौतिक शक्ति पराधीन भी होती है। किन्तु दूसरी ओर आत्मा के पास अमित शक्ति होती है जो स्वाधीन भी होती है। इस आध्यात्मिक निधि से जो सुख मिलता है, वह भी अखूट होता है। ऐसी निधि की उपलब्धि के लिये तो प्रत्येक विवेकशील आत्मा का प्रयोजन एव प्रयास पक्का और पुष्ट होना ही चाहिये।

दातार से साक्षात्कार करें :

यह आध्यात्मिक निधि देने वाला जो दातार है, उससे पहले आपको साक्षात्कार करना होगा। अमित निधि की दातार भी वही है तो अमित फल की दातार भी वही आत्मा है जो स्वाधीन शक्ति की धारिणी है। ऐसी आत्मा जो आपके पास है, वही आत्मा एक छोटे बच्चे के पास मे भी है। इसका मतलब है कि जो खजाना आपके पास है, वही खजाना छोटे बच्चे के पास भी है। परन्तु उस छोटे बच्चे को अपने खजाने का पता नहीं है और उसे पता हो भी कैसे, जब बड़ो को भी उसका पता नही है। जब खजाने का पता नही तो दान मिलेगा कहा से और दातार को पहिचानोगे कैसे ? इसलिये दातार को पहिचानने का पहिला काम माना जाना चाहिये।

तीर्थंकर प्रभु का इस कारण कथन है कि—हे मानव, तू अपने

सिवा खाद्य पदार्थ तैयार कोई था नहीं। वे पकाए जा रहे थे।

"बेटी! जरा ही देर और ठहर! मैं तेरे लिए अभी भोजन तैयार करवाए देता हू।"

"पिताजी! अब अधिक ठहरने की रत्ती-भर भी गुंजाइश नहीं। भूख के मारे प्राण-पखेरू उड़ना चाहते हैं। उड़द के बाकले ही अभी थोडे-से दे दीजिए। पेट तो केवल आहुति चाहता है। स्वाद और बे-स्वाद ये तो जबान के चोंचले हैं। खट्टे-मीठे, चरपरे, खारे, कडवे और कसैले जितने जायके हैं, सब-के-सब केवल जबान के हैं। परन्तु पेट के पास जाते ही ये सब-के-सब एक ही जाति के बन जाते हैं।"

चन्दना की अपूर्व-भावना

चन्दनबाला की यह तिलमिलाहट देख सेठ कर अब अधिक समय ठहर न सका। पडौस में रक्खे हुए एक सूप को उठा लिया और उसी में कुछ बाकले उस के सामने खाने के लिए ला रक्खे। चन्दनबाला वहा से सरकते-सरकते दरवाजे की ड्योढी पर आ बैठी। इतने ही में स्वयसेठ उनकी बेडियों और हथकडियों को कटवाने के लिए लोहार को बुला लाने के लिए दौड़ पडा। अभी चन्दनबाला ने मुंह में एक दाना भी नहीं डाला था 'कि किसी निर्ग्रन्थ मुनिराज के वहां आ पहुचने और दान देकर पीछे पारणा की भावना' उसके मनमें जागी।

उत्कट अभिग्रह-साधना की संपूर्ति

'यादृशी भावनास्ति सिद्धिर्भवति तादृशी।'

—जैसी जिसकी भावना वैसी उसको सिद्धि। उसी क्षण स्वय 'भगवान महावीर' उधर आ निकले। उन के अभिग्रह के अनुरूप

करता है या अन्य पाप करता है, उससे वह अपने आपको ही धोखा देता है। एक ओर तो इस प्रकार प्रतिक्षण वह पाप करता हुआ गन्दगी को इकट्ठी करता है तो दूसरी ओर उस गन्दगी को छिपाने की भी वह कोशिश करता रहता है। पाप छिपाने का मायावी प्रयास वह इसलिये करता है कि गन्दगी के होते हुए भी दुनिया उसे साफ आदमी समझे। किन्तु आप जानते हैं कि गन्दगी को जितनी ज्यादा दबाने की कोशिश की जाती है, वह अपनी बदबू के साथ उतनी ही ज्यादा बुरी तरह फूट कर बाहर निकलती है। इसका बुरा असर दूसरों पर भी पडता है, मगर सबसे ज्यादा तो अपने खुद पर ही पडता है। इस अमूल्य जीवन को गन्दगी मे बरबाद करते हुए भी आज आदमी अपने अज्ञान से खुशी मनाता है—यही सबसे बडी विडम्बना है।

जिन्दगी को इस तरह गन्दगी मे लगादी तो पल्ले कुछ नही पडेगा और खाली हाथ जाना होगा। सिकन्दर बादशाह ने बडे-बडे राज्य जीते, धन-दौलत इकट्ठी की और दुनिया मे अपना रुतबा जमाया मगर जीवन मे उसने कुछ पाया नही—खोया ही खोया और इसका नतीजा यह हुआ कि अन्तिम समय मे खाली हाथ वह पछता रहा था। दुनिया भर की सम्पत्ति और वैभव को एकत्रित करने की जो लालसा है तथा उसे प्राप्त करके जो खुशी मनाई जाती है, वह एक तरह से गन्दगी के ढेर पर बैठकर मनाई जाने वाली खुशी है। जीवन मे अन्दर ही अन्दर गन्दगी इकट्ठी होती जाय—रोग बढता जाय और आप बेभान रहे तो मानिये कि इस ससार मे आपका जो गति क्रम है, वह तुच्छ प्रयोजन के साथ ही चल रहा है।

मानसिक गन्दगी को जब मिटाने का प्रयास नही किया जाता है तो मन भी अस्वस्थ बनता है और शरीर भी अस्वस्थ बनता है। मन की बीमारियो से ही शरीर की अधिकतर बीमारिया फैलती हैं। विद्यालयो मे आज छात्रो को यह विज्ञान समझाया जाना चाहिए कि मन की गन्दगी समूचे जीवन को किस प्रकार और कितना गन्दा बनाती है? भावी पीढी को अगर ऐसे सस्कार शुरु से दिये जाय और वे अपने कोमल मस्तिष्क में इस विकार के प्रति सचेत बन जाय तो भविष्य को कम से कम आज की सी गन्दगी से मुक्त रखा जा सकेगा।

बन्धी और खुली मुट्ठियां :

दुनिया को यह शिक्षा दी जाय कि बच्चा जब जन्म लेता है तो

उस का भण्डाफोड़ वह न कर दे। नहीं तो सेठ की निगाह से सदा के लिए वह गिर जावेगी। उसे यूं सकुचाते देख चन्दनबाला ने कहा—

"मां! यह सारा पुण्य-प्रताप आप ही का है। यदि आप ऐसा व्यवहार मेरे साथ नहीं करतीं तो वीर-प्रभु के दर्शन मुझे हो ही कैसे पाते? मा! चित को तनिक भी छोटा न करो। मैं तो सब प्रकार से आप ही की हूं।"

उस पालक और उस वेश्या ने भी यह सन्देश सुन पाया। स्वर्ण-मुद्राए जो बरसीं, 'वे हमारी हैं' यह कहते हुए वे भी दौड़ पडे। स्वर्ण-मुद्राओं के लिए दोनों परस्पर लडते-झगडते कौशाम्बी-नरेश के पास पहुचे और चम्पा नगरी की लूट के समय चन्दनवाला को लूट में पाने की सारी बात आदि से अन्त तक उन्हों ने उस के सामने कह सुनाई। शतानिक के कानों पर यह बात पडते ही वह आग-बबूला हो गया, और कहने लगा—

"ऐं! साढू की लडकी चन्दनवाला! उस पर इस प्रकार घोर संकट? पकड कर डाल दो इन दोनों को भयकर कारावास में।"

तब तो राजा स्वय चल कर धनावह सेठ के यहां आया। और चन्दनवाला को मांग कर बडे सत्कार के साथ अपने राज-महलों में ले गया।

पिता-पुत्री मिलन

महाराजा दधिवाहन को भी सूचना दी गई। वे भी कौशाम्बी में आ पहुचे। 'जन्म-दरिद्र मनहु निधि पाई' के नाते खोये हुए पिता से भेंट कर जो अपार हर्ष हुआ, वह कहते नहीं बनता। इस का अनुभव तो उन्हीं को हो सकता है, जो स्वयं चन्दनवाला का हृदय रखते हों। महारानी धारिणी की बात पूछने पर मार्ग में 'उस पर

मनुष्य के मन और मस्तिष्क में रम जाती है, तभी उसकी दृष्टि व्यापक, सरस, और सजग बनती है। तब वह स्वयं को भी देखता है—बाहर से नहीं भीतर से और बाहर भी सबको उसी सहृदयता से देखता है।

अपने अन्दर आप भी रोज झाड़ू लगाया करो और सोचो कि पड़ौसी अपने घर मे भूखा पड़ा हो और आप अपने घर मे अनाज को भरके रखो और सड़ाओ तो आप ममता की गन्दगी के कितने बड़े ढेर पर खड़े हो? आप ममत्व भाव से सोचते हैं—यह धन मेरा है और उसके साथ आर्त्त एव रौद्र ध्यान की अप-धाराओं मे बहते है तो आपका मन कैसे साफ होगा और कैसे आप अपने अमित फल दातार के दर्शन कर सकेंगे ?

व्यक्ति कभी सोचता है कि मैं किसी को थोड़ा दे दूंगा या धन से उसकी सहायता कर दूंगा तो मैं उस पर बड़ा उपकार करूंगा। किन्तु जब मन मे सफाई आयगी तो समझ में आयगा कि तू तो उस पर उपकार कर रहा है या नहीं—यह तो अलग बात है मगर किसी गरीब और दु:खी की सहायता करके तू अपने पर तो उपकार अवश्य ही कर रहा है। तू किसी को अपने पास से कुछ नहीं देता है तो यह तेरी आसक्ति है मन की गन्दगी है और जब तू नि:स्वार्थ भाव से कुछ त्याग करता है तो तू अपने गन्दे मन को साफ करता है—आसक्ति के मैल को धोता है। मन की स्वच्छता के धरातल पर ही समता का प्रवेश होता है।

त्याग में निर्लेप भावना रखें :

समता की दृष्टि से जो भी त्याग किया जाय, उसमे निर्लेप भावना होनी चाहिये। लेप ममता का होता है और जब ममता छूटती है तभी निर्लेप वृत्ति पुष्ट बनती है। स्वच्छता, समता और निर्लेपता के साथ अमित फल दातार की खोज सफल होती है। तब जो अपने पास से किसी की सहायता मे कुछ दिया जाता है, वह समत्व भावना से दिया जाता है। किन्तु कुछ मेरे भाई-बहिन जो देते भी हैं पर भावना यह रखते हैं कि हम जिसकी सहायता करते हैं, वह हमारा उपकार माने और जिन्दगी तक हमसे दबा हुआ रहे। यह स्वार्थपूर्ण विचार है तथा ऐसे लोग मौका आने पर अपना अहसान भी जताते हैं और उस पर टकोरा भी मारते हैं। यह वास्तव में ममत्व का त्याग नही है, त्याग का ढोंग मात्र होता है।

जब त्याग में निर्लेप भावना नहीं होती तो आडम्बरी वृत्ति बढती

कर लिया। फिर जितनी भी महिलाओं ने समय समय पर दीक्षा धारण की। वे सब-की-सब महासती चदनबाला ही के नेश्रित हुई। सभी अपनी शिष्याओं को महासती चन्दनबाला ने पर्याप्त ज्ञान का अध्ययन कराया। जब आप का अन्तिम समय आया। आपने सन्थारा (समाधि) धारण कर लिया। यू अपने आठों कर्मों का एकान्त नाश कर के सदा के लिए आप मोक्ष में जा विराजों।

देवी! तुम धन्य हो! जगत् की महिलाओं के लिए आप का आदर्श-चरित आये दिनों प्रकाश-स्तम्भ का काम देता रहेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] बताओ कि 'चन्दनबाला अपने बालकपन ही से वड़ी कुशाग्र-बुद्धि थी।'

[२] चम्पा नगरी की लूट से चन्दनबाला और उस की माता पर कौन सी विपत्ति आकर टूटी? उस समय उस की माता ने अपने शील धर्म की रक्षा कैसे की?

[३] परम पवित्र नवकार-मन्त्र ने चन्दनबाला को वेश्या के पजे से कैसे छुड़ाई?

[४] मूला की मनोरथ-सिद्धि कब और कैसे हुई?

[५] "जितने तारे गगन में, उतने वैरी होय।
एक कृपा जिनराज की, बाल न बाको होय॥"
इस कथन की सत्यता को चन्दनबाला के जीवन पर घटा कर दिखाओ?

[६] चन्दनबाला के आदर्श-चरित से जगत् को जो उपकार हुए हों, उनमें से किसी एक-आध का पूरा-पूरा वर्णन करो।

[७] इस वर्णन में जितने भी मुहाविरे और लोकोक्तियां आई हों, उन का अपने वाक्यों में प्रयोग करके दिखाओ।

अमित फल दातार की खोज :

अन्तरावलोकन एवं अन्तरान्वेषण से जब मैं लोगों को विमुख होते हुए देखता हूं तो बहुत कुछ कहना चाहता हूं किन्तु मैं उसे एक साथ व्यक्त नही करना चाहता, बल्कि अपने कहने पर नियत्रण लगाना चाहता हू । क्योकि पहले ही आप लोगों की जठराग्नि कमजोर हो रही है और मैं आपको ज्यादा कह दू तो कही अजीर्ण न हो जाय । इसलिये आप तो मूल रूप मे यह सोचिये कि मन की सारी गन्दगी को हटा कर अमित फल दातार की खोज करनी है । आप इन नाशवान् पौद्गलिक पदार्थों से न चिपकें और जीवन को निर्मलता की दिशा मे मोडें । तभी अमित फल दातार की खोज कामयाब हो सकेगी और अपनी ही जागृत आत्मा से भेंट हो सकेगी ।

अमित फल दातार आत्मा से यदि भेंट करली तो सारी ऋद्धि-समृद्धिया और शक्तिया आपके चरणो में लोटने लगेंगी । भारत को स्वतत्र हुए इतने वर्ष हो गये किन्तु गरीबों की गरीबी मे कोई फर्क नही आया—उनका दु ख बढता जा रहा है । मैं तो देखता हू और हैरान होता हू कि इन दु खी आंखो के आसू कब दूर होगे ? देश का यह नक्शा कब बदलेगा ? इसमे मेरा चिन्तन है, लगाव नही है । आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माओ को आत्मा के तुल्य समझता हू । इसी नाते आपसे भी कहता हू कि आप मन के कूडे-कर्कट को हटाने की कोशिश कीजिये और ममता को त्यागिये, जिससे सबके प्रति सहानुभूति पैदा होगी एव समता-भाव विस्तृत बनेगा । अमित फल दातार की खोज की सफलता के लिये ऐसी ही पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है ।

विराट् स्वरूप की दिशा :

अमित फल दातार आत्मा की खोज अनन्त शक्तियो का द्वार खोल देती है और उनके प्रकाशित होने से विराट् स्वरूप की दिशा प्रशस्त बन जाती है । आत्मा के साक्षात्कार से आत्मा को अमित फल की प्राप्ति होती है और उसका स्वरूप विराट्ता की ओर अग्रसर बनता है । इसके लिये मनुष्य को यथार्थवाद की स्थिति से चलने का यत्न करना चाहिये और अपने मन मे झाक कर वहा की गन्दगी को साफ करने का सकल्प बनाना चाहिये । यदि ऐसा किया तो जीवन मे निर्मलता बढेगी और प्राणीमात्र के साथ समत्व की भावना फैलेगी ।

यही दिशा है अमित फल दातार की खोज की, जिस तरफ आगे बढकर शान्ति और आनन्द की ऐसी धारा प्रवाहित की जा सकती है जिसमे [illegible]मज्जित होकर न केवल स्वय की आत्मा ही पवित्र बनेगी, बल्कि सामाजिक [illegible] भी विकास का नया निखार पा सकेगा ।

[illegible]हर-भीनासर दि० १८-११-७२

इन दोनो वीरागनाओं का सत्प्रेम आज की माताओं और बहिनों के लिए जो बात-बात में और चलते-फिरते कलह को निमन्त्रण दे-देकर बुलाती रहतीं और अपने वश की बची-बचाई मान-मर्यादा तथा प्रसन्नता को झाड-बुहारकर मटिया-मेट करती हैं, एक दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम दे रहा है। शताब्दियों की गर्मी, सर्दी, आधी, वर्षा और पतझड उसका बाल भी बांका न कर सकी। आज भी वह प्रकाश-स्तम्भ ज्यों का त्यों खड़ा हुआ है।

इन्द्रप्रस्थ की नींव

एक समय महाराज पाडु खुली हवा का सेवन कर ने के लिए जंगल में निवास कर ने को गये। वसन्त-ऋतु की बहार छाई हुई थी। प्रकृति की शोभा को देखते हुए वे एक दिन इधर-उधर टहल रहे थे, कि इतने ही में अचानक उनके हृदय की धड़कन बन्द हो गई। जिसके कारण उनकी जीवन-लीला वहीं समाप्त हो गई। इस अचानक वज्रपात से राज्य में चारों ओर कुहराम छा गया। कुटुम्बी-जनों ने मिलकर विधि-पूर्वक अग्नि-सस्कार उनका किया। फिर पाडवों ने आये दिनों 'इन्द्रप्रस्थ' की नींव डाली और उसी को अपनी राजधानी बनाया।

पांडवों की धू त-क्रीड़ा

पाडवों को जूआ खेलने का वडा ही बुरा व्यसन था। वह भी ऐसा-वेसा नहीं, दाव लगा कर एक दिन वे लोग कौरवों के साथ जूआ खेलने को बैठे। कौरव वडे ही कपटी और छल-छन्दी थे। उस में पाडवों की ओर हर समय हार होती गई। फिर भी वे खेलते-ही रहे। यहां तक की अन्त में चल कर तो उन्हों ने अपनी बपौती की एक मात्र मान-मर्यादा अपने राज्य तक को दाव पर रख दिया।

वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की स्तुति का अर्थ मन की तल्लीनता होता है। मन जब तल्लीन और एकाग्र होता है तो वह प्रभु के एक-एक गुण को सूक्ष्म रीति से देखता और समझता है। उस समय प्रभु के स्वरूप के सिवाय अन्य कुछ भी उसकी दृष्टि मे नही रहता। फिर एक-एक गुण को समझते हुए उसे अपने जीवन मे उतारने का सकल्प लेता है। तब ज्यों-ज्यो प्रार्थना और स्तुति में तल्लीनता बढती है, त्यो-त्यो प्रभु का स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होने लगता है और त्यो-त्यो उसे अपने जीवन मे उतारने की निष्ठा सुदृढ बनती जाती है। यही क्रम दूसरी ओर से भी चलता है कि अपने जीवन की गुण सम्पन्नता के साथ-साथ प्रभु की स्तुति मे रुचि भी अधिकाधिक घनिष्ठ होती जाती है।

आत्मा-परमात्मा की घनिष्ठता :

प्रार्थना आत्मा और परमात्मा को आमने-सामने लाने का माध्यम होती है किन्तु जब प्रार्थना की एकाग्रता बढ़ती जाती है तो यह सम्पर्क-सूत्र की सशक्त कडी बनकर आत्मा और परमात्मा के बीच मे गहरी घनिष्ठता पैदा करती है। यह अवस्था केवल स्तुति के उच्चारण से नही आती। स्तुति मे वर्णित प्रभु के गुणो को अपने आचरण में लाना होता है। जब प्रार्थी प्रार्थना की दृष्टि से परमात्म-स्वरूप की महिमा का वर्णन करता है और फिर भी आचरण की दृष्टि से शून्य ही बना रहता है तो उच्चारण और गायन कला को सुनकर स्तुति के श्रोता भले ही स्तुति-कर्त्ता की प्रशसा कर लें और वे परमात्म-स्वरूप मे मन लगा लें, किन्तु उससे स्वय स्तुति-कर्त्ता का विशेष लाभ होने वाला नही है।

परमात्मा का स्वरूप कितना विराट् होता है। उस विराट् स्वरूप से कुछ भी ग्रहण किये बिना स्तुतिकर्त्ता परमात्मा की स्तुति करता रहा और श्रोताओ को लगेगा कि उसने उन गुणो मे से अपने आचरण मे कुछ भी उतारा नहीं है तो उसकी वह प्रशसा भी धीरे-धीरे समाप्त हो जावेगी। जैसे ही स्तुति करने वाले व्यक्ति के जीवन मे वे परमात्मा के गुणो का अश भी नही पायेंगे और आचरण की श्रेष्ठता नही देखेंगे तो उनके मन मे से भी परमात्मा की स्तुति का प्रभाव हट जायगा। वे सोचेंगे कि यह तो केवल वाचिक दृष्टि से स्तुति का प्रसग है—विरुदावलि मात्र है।

स्तुति करने और स्तुति करने वाले का स्थायी प्रभाव तभी पडेगा, जब इस स्तुति के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के बीच आचरणगत

मिलता है, न पैर पसार कर बिछाने ही को। नकुल और सहदेव की सार-सभाल कौन करता होगा ? उसके साथ वेचारी द्रौपदी भी भी कडाके करती होगी। इतना पर भी आनन्द और कुशल-मगल ?"

इस पर महाराज कृष्ण ने अपनी भूआजी को धीरज बंधाया और शीघ्र ही उनके दुख को दूर करने का वादा किया। उन्हों ने अपने दूत को कौरवो के पास भेज कर उन्हें समझाया-बुझाया। फिर पाचों पाडवों को कम से-कम पाच गाव दे-देने के लिए उन से कहा। बदले में कौरवों की ओर से उत्तर मिला, कि—

"पांच गाव कहते किसे हैं ? बिना युद्ध के हम तो सूई की नोंक के बराबर भूमि तक देने के लिए तैयार नहीं हैं।"

कौरव-पांडव संघर्ष बनाम महाभारत-युद्ध

कौरवों का यह सूखा और हृदय-हीन उत्तर महाराज कृष्ण को बड़ा ही अखरा। उन्हों ने पाडवों को उकसाया। इस पर घन-घोर युद्ध छिड गया। वह युद्ध 'महाभारत' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें कौरवों को अपने मुंह की खानी पड़ी। उन के वंश में कोई 'नाम लेवा और पानी देवा' तक नहीं रहा। पाडवों की जीत हुई। हस्तिना-पुर राज्य सब का सब पाडवों के हाथ लगा।

कुंती की जन्म-घुटी

अपने पुत्रों के शोक से विह्वल होकर एक दिन महाराज धृतराष्ट्र और उनकी पत्नी गाधारी दोनों वनवास के लिए जाने लगे। जब यह बात कुन्ती ने सुनी, वह भी उनकी सेवा-सुश्रुषा के लिए उन के साथ हो ली। वह सेवा-धर्म के मर्म और उस के फल को खूब ही जानती थी। उसे उस की जन्म-घुटी के साथ यह बात घोल कर

को एक बार पा लिया तो समझिये कि आत्म-विकास के मार्ग पर मजबूती से चलने के लिये बहुत कुछ पा लिया है। ऐसे इस आध्यात्मिक शक्ति-समूह को मनुष्य चाहे कि एक साथ प्राप्त करलू तो यह शक्य नही है।

शुद्ध प्रणिधान रूप आध्यात्मिक शक्ति समूह को धारण करने के लिये इस जीवन मे सासारिक सुखो की दृष्टि से और विकारो व वासनाओ की दृष्टि से बहुत कुछ छोडना होता है—त्यागना पडता है। जो सही ज्ञान के साथ त्याग का मार्ग अपनाता है, वह बहुत कुछ अवश्य पाता है—आत्म-शक्तियो के निधान को भी प्राप्त कर लेता है। जो सच्ची श्रद्धा के साथ परित्याग करता है, वह जीवन को आदर्श बनाता है। कई लोग ऐसे त्यागी के जीवन को देखकर कह उठते हैं कि अरे, इस बेचारे ने सब कुछ त्याग दिया, इसके पास कुछ भी नही है। परन्तु इस प्रकार का विवेकहीन कथन करने वाले लोग यह सोच नही पाते हैं कि इसने त्यागा तो कुछ है किन्तु अपनी उत्कृष्ट भावना के साथ पाया अधिक है। विवेकशील व्यक्ति अपनी ज्ञान दृष्टि से जान सकेंगे कि त्याग ऐसा गुण है जिसको ग्रहण करने पर छोडने से भी पाना अधिक होता है। विकास का क्रम भी त्याग से बनता है तो त्याग ही से शक्ति का निधान भी इस आत्मा को प्राप्त होता है।

त्याग की अद्भुत शक्ति :

जीवन की सुकोमल वृत्तियो को जगाने का काम त्याग करता है और इसीलिये त्याग की अद्भुत शक्ति मानी गई है कि जो देता है—छोडता है, वह महान् बनता है। फिर भी त्याग मे इस हाथ देना और उस हाथ लेना है। बाह्य रूप से जितना त्याग के रूप मे छोडना दिखाई देता है, आन्तरिक रूप से त्यागी को छोडने की अपेक्षा कई गुना अधिक लाभ आत्म-बल की प्राप्ति के रूप मे मिलता है। इस दृष्टि से त्याग मे देना कम है और लेना अधिक है। व्यावारिक बुद्धि से भी कोई सोचे तो यह लाभ का व्यापार है और इसमे प्रवेश करने से किसी भी बुद्धिमान को पीछे नही रहना चाहिये। शुद्ध प्रणिधान भी एक प्रकार से त्याग का ही रूप होता है। शुद्ध प्रणिधान जहा बनेगा, वहा त्याग तो करना ही पडेगा और त्याग मे जितनी गहराई आती जायगी, उसकी अद्भुत शक्ति भी प्रकट होती रहेगी।

छोटी से छोटी वस्तु को पाने के लिये कुछ न कुछ परित्याग करना पडता है। यदि कोई अपने हाथ मे इत्र आदि कोई सुगन्धित पदार्थ लेना चाहता है तो पहले उसे हाथो पर लगी हुई दुर्गन्धि का परित्याग करना होगा। दुर्गन्ध मिटेगी तो सुगन्ध मिलेगी। दुर्गन्ध का परित्याग करने पर ही वह सुगन्ध

हैं कि अपनी एक-दूसरी बहिन के साथ सहानुभूति के दो बोल बोलना तो बहुत ही दूर रहा, वरन् उन की दयनीय और दर्दनाक दशा को वे अपनी फूटी आंखों से देखना तक पसन्द नहीं करतीं। एक सम्पन्न माता के घर के कुत्ते और बिल्लिया तक पक्वान्न खाते-खाते इतने तृप्त हो जाते हैं, कि वे उन की ओर देखते तक नहीं। वही जब अपनी किसी पड़ोसिन को भूख के मारे तड़फती हुई देखती है, तो उसके हृदय में करुणाभरी टीस का कोई नाम तक नहीं होता। उसे वह एक मुट्ठीभर चने तक देने के लिए उतारु नहीं होतीं। हृदय-हीनता का कैसा नमूना है?

हा हन्त! वे नारियां-माताएं कहला कर भी निस्वार्थ प्रेम-भरे हृदय से तो कोसों ही दूर रहती हैं। उन्हें कोई माताएं मानता रहे। वे तो निरी मिट्टी की निर्जीव पुतलियां मात्र हैं। हृदय हीनता पशुता की पहचान है, निर्जीवता का लक्षण है, और पामरता का चिन्ह है। आज हमारे देश में पुरुषों के लिए एक-दो और दस नहीं, वरन् सैंकड़ों ही अनाथालय खुले हुए हैं। परन्तु महिलाओं के लिए वैसी संस्थाएं केवल अंगुलियों पर गिनी जाने लायक ही हैं। प्रकृति इस अन्याय-पूर्ण नीति को सहन करने के लिए कभी उतारु नहीं होती।

असहाय-बहिनों का सेवा-स्थल : महिलाश्रम

मानव-जगत् में जितनी आवश्यकता पुरुष-जाति की है। स्त्री-जाति की भी उस में उतनी ही अधिक आवश्यकता और उपयोगिता है। तब क्या हमारी सधर्मी और विदुषी माताओं और बहिनों का यह परम धर्म श्रेष्ठ कर्त्तव्य नहीं है कि वे अपनी भूखी बहिनों की उदर-पूर्ति के लिए, उन्हें वेश्या बनने से रोकने के लिए, उन्हें विधर्मी

अन्तर्गत जब त्याग और तप का प्रसंग आता है तो उस समय शुद्ध प्रणिधान की दृष्टि से त्याग और तप के आभ्यन्तर महत्व को हृदयगम करना चाहिये।

जहा तप की स्थिति का सकेत मैं दे गया हूं कि जब बाहर से लोगों को तन को तपाते हुए, शरीर को कृश बनाते हुए तथा बाहर की स्थिति से ही तप का आराधन करते हुए देखते हैं तो यह समझ मे आता है कि उन्होंने तप के आन्तरिक महत्व को नहीं समझा है। कोई तन को तपाने के लिये ही तप करना चाहता है तो उससे तप नही होगा। तप का प्रारम्भ भी अन्तरात्मा की गहराई से होना चाहिये—सम्यक् ज्ञान की प्रतीति से होना चाहिये। ऐसा जब होगा, तभी आत्मा के शुद्ध स्वरूप के साथ चिपका हुआ मैल दिखाई देगा—उससे फूटती हुई दुर्गन्ध का अनुभव होगा। तब जो पहला प्रयास होगा, वह यही होगा कि इस मैल और दुर्गन्ध को समाप्त करने मे तप का प्रयोग किया जाय। जो तप अन्दर के मैल को दूर करेगा, वही तप बाहर के रूप को भी प्राभाविक बना सकेगा। वासना की दुर्गन्ध को ऐसे ही आभ्यन्तर और बाह्य त्याग के माध्यम से मेटी जा सकेगी।

तप अज्ञानपूर्वक या ज्ञान-साधना से ?

शुद्ध प्रणिधान के लिये शुद्ध प्रणिधान के माध्यम से जो अपनी आत्मा को धोना चाहता है—उसके स्वरूप को परिमार्जित करना चाहता है, उसे ज्ञान साधना से तपाराधन करना होगा। अज्ञानपूर्वक किया हुआ तप जीवन विकास को प्रेरित नही करता। ज्ञान साधना के साथ तप का महत्त्व समझ कर जो आन्तरिक भावों से तप की आराधना करता है, वह अनुभव करता है कि तपाराधन की उत्कृष्टता के साथ-साथ शुद्ध प्रणिधान की उत्कृष्टता भी बढती जाती है। जितनी अधिक आत्म-शुद्धि, उतनी ही शान्ति की समीपता-यह ज्ञान-मय तप का सुखद फल समक्ष आने लगता है।

वर्तमान मे देखें तो ज्ञानमय तप-साधना क्वचित रूप मे किसी समय ही होती है, परन्तु अधिकाशत तो सभी ओर अज्ञानपूर्वक किये जाने वाले तन के ताप रूप तप के ही दृश्य दिखाई देते हैं। सोचें कि एक व्यापारी अपनी दूकान पर बैठा हुआ अपने पदार्थों का ग्राहकों को विक्रय कर रहा है। मेले के प्रसग से ग्राहकों की भीड लगी हुई है। मुनाफे का मार्जिन भी अच्छा है और आमदनी अच्छी हो रही है। अब वह व्यापारी कल का भूखा है तथा आज भी भोजन करने मे इस ग्राहकी के कारण विलम्ब होता जा रहा है, फिर भी धन लाभ की दृष्टि से उसे उस वक्त भूखे रहने का कष्ट भी मालूम नही

"पुत्रो! जो भी जन्म लेकर यहा आया है, उसे एक न एक दिन यहा से जाना होगा। और अवश्य जाना पडेगा। यहां न किसी की बनी रही, और न किसी की बनी रहेगी। कल यहा कौरवों का राज्य था। आज उन का कोई नाम लेने वाला भी यहां नहीं। फिर आत्मा को शान्ति न राज्य से मिलती है, न धन से, न कुटुम्ब से, न वैभव से और न पौद्गलिक-सुख ही उसे दिला सकने मे समर्थ हैं। वह तो त्याग तथा सेवा ही से मिल सकती है। अत: तुम मुझे लाख-लाख रोको। पर मैं अब रुक नहीं सकती। ये धृतराष्ट्र आदि पुत्रों के शोक से घोर दु:खी हैं। अब मैं इन को अपनी वास्तविक सेवा का सच्चा अधिकारी समझती हूँ। मुझे तो अब इन्हीं की सेवा में आनद-मगल दिखाई देता है। तुम्हारा भी परम कर्तव्य यही है कि तुम मुझे ऐसी अनायास-प्राप्त सात्त्विक-सेवा के मार्ग से भूल कर भी कभी विचलित मत करो।"

बस, यूं अपने पुत्रों को समझा-बुझा कर वह तो धृतराष्ट्र आदि के साथ चल ही पडी। अपने उसी सेवा-धर्म के बल से महिलाओं में उस का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है।

माता! तुम धन्य हो! तुम्हारा आदर्श चरित्र अक्षय-काल के लिए ससार की महिलाओं को सेवा-धर्म का आदर्श पाठ पढाता रहेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न—

[१] कुन्ती और माद्री के आदर्श प्रेम का वर्णन, थोड़े में करो।

[२] जूआ खेलने से होने वाली हानियों की रूप-रेखा खींचो।

[३] महाभारत के युद्ध का मूल कारण बताओ।

[४] 'सेवाधर्म ही मनुष्यों का परम धर्म है'। कैसे? उस से होने वाले लाभों को थोडे में प्रकट करो। सेवाधर्म के लिए शास्त्र तथा सतों की एक-दो वाणियों का उद्धरण भी दो।

नहीं तो उस तप की क्या सार्थकता है ? गीता का एक श्लोक है कि जहां तप की साधना है, वहा से विषय और वासना के विकार वापिस लौट जाते है । विकारो की मलिनता के हटने पर ही आत्मा को अपने निर्मल स्वरूप का भान होता है । उपवास की प्रधान उपलब्धि यह मानी जानी चाहिये कि हृदय मे चलने वाले विकारो के तूफान का उससे शमन हो जाय । बेले और तेले की तपस्या तक तो हृदय मे निर्मल शान्ति छा जानी चाहिये । स्व० आचार्य गुरुदेव फरमाया करते थे, जिसकी मुझे कुछ स्मृति है कि जो विधवा बहिनें हैं, वे एक प्रकार से त्याग का स्वरूप लिये हुए रहती हैं। मन की अवस्था ज्ञानी-जन जानें किन्तु आप देखते है कि वासनाओ की दृष्टि से वे वाचिक और कायिक नियन्त्रण तो सामान्य रूप से साधती ही है । और जब वचन और काया पर नियन्त्रण साधने का अभ्यास हो जाता है तो मन के नियन्त्रण की शक्ति भी बढती ही रहती है । कारण वचन और काया भी मन से अधिक भिन्न नही रह सकते हैं ।

कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी छोर से चलें, मन के नियन्त्रण की सर्वोपरि आवश्यकता रहती है और यह नियन्त्रण विकारो के त्याग से ही प्राप्त किया जा सकता है । मन पर नियन्त्रण नही रहता है, तभी विषय-विकारो की मलिनता चारो ओर से प्रवेश करने लगती है। यह सस्कारो का विषय है कि एक बालक को उसके माता-पिता एव परिवार जन प्रारम्भ से ही ऐसी मलिनता से बचानें के लिये कैसी शिक्षा दें तथा सारे समाज का वातावरण भी किस प्रकार से ढालें ? सस्कारो का निर्माण यदि योजनाबद्ध रीति से किया जाय तो विकारो की इस गन्दगी को रोका जा सकता है । माता-पिताओं का स्वय का जीवन शुद्ध हो तथा वे वैसी ही शुद्ध भावनाए अपने बालको के हृदय मे डाले तो धीरे-धीरे सारी समाज का स्वरूप भी बदला जा सकता है । इस शुद्धि के दो ही सूत्र है कि वासनाओ का त्याग करो—विकारो को हटाओ तथा इसके सशक्त साधन के रूप मे आन्तरिकतापूर्वक तप की आराधना करो । चाहे परिवार हो या समाज, स्वय की शुद्धि का बडा प्रभाव पडता है । जीवन बनाने की यही राह है ।

विकार मुक्ति की दिशा :

परिवार और समाज के आगेवान अगर अपने जीवन को शुद्ध बनावें और उसके प्रभाव से यह प्रयास करें कि परिवार और समाज मे भी शुद्धता का वातावरण बने तो ऐसा सहज मे हो सकता है । विकार मुक्ति की दिशा स्पष्ट होती है, जहा पहले अपने ही आचरण से आदर्श प्रस्तुत करना

परायणा थी, वैसी ही वैराग्यवान् भी वह थी। 'विशाला नगरी' के 'महाराज चेटक' उस के पिता थे। उस के छ वहिनें और भी थीं। जिन में से एक का नाम 'त्रिशला' था। ये वे ही त्रिशला देवी थीं, जिनकी पावन कोंख से भगवान् महावीर जैसे नर रत्न अवतरित हुए।

राजकीय चित्रशाला और राज-रोष

एक दिन महाराज शतानिक ने अपनी चित्रशाला का अवलोकन किया। उन्होंने एक-एक करके वहा के सम्पूर्ण चित्रा को वड़े ही ध्यान पूर्वक देखा। उनमें एक चित्र मृगावती का उन्हें दीख पडा। उस चित्र और मृगावती में यदि कोई अन्तर था तो यह वोलता न था, और वह वोलती थी। दूर से यही जान पडता था, कि यह साक्षात् मृगावती ही खडी हुई है। उसे देख कर राजा का मन-मयूर नाच उठा। परन्तु इस नश्वर-जगत् में कोई वस्तु स्थायी रह भी कैसे सकती है? कुछेक क्षणों में ही राजा की वह प्रसन्नता अप्रसन्नता में वदल गई। चित्रकार की सारी कला-मर्मज्ञता पर वात की वात में पानी फिर गया। उस चित्रसारी में अपनी पटरानी के उस मनमोहक चित्र को देख कर उस ने अपना घोरतम अपमान समझा।

उसने अपने मनमें सोचा कि-"एक प्रतापी नरेश की माननीया महारानी को चित्रकार ने कब, कहां और कैसे यूं देख पाया? जिससे ऐसी चित्ताकर्षक चित्र खींचने में यह इतना अधिक सफल हो सका? इस चित्र को देख कर के तो कोई भी चित्र-कला प्रेमी यही समझेगा कि महारानी मृगावती और चित्रकार का कोई न कोई भीतरी सम्वन्ध कभी न कभी अवश्यमेव रह पाया होगा। अन्यथा ऐसा चित्र यह वना भी कैसे सकता था?"

चित्रकार को प्राण-दंड की घोषणा

संसर्ग से बाल-विधवा पर नया ही रंग चढने लगा। उसका मन जो शान्त हो चुका था, फिर विकारी भावनाओं में डगमगाने लगा। वह वापिस अपने ससुराल इसी मानसिक दशा मे लौटी। सेठजी ने सारा हालचाल देखा तो समझ गये कि उनके किये कराये पर पानी फिर गया है।

आते ही पहले ही वक्त मे पुत्रवधू ने स्वादिष्ट भोजन बनाया तो सेठजी ने कह दिया कि जब पुत्र ही चला गया तो वे अच्छा भोजन करके क्या करेंगे ? वे दूकान पर चले गये। पुत्रवधू ने भोजन कर लिया यह सोच कर कि चला गया सो चला गया, वह अपने सुख को नष्ट क्यो करे। उसने पीहर से सीखी हुई अपनी भावना मन में नहीं छिपाई तथा श्वसुर से कहलाया कि वह पुनर्विवाह करना चाहती है। फिर दूसरे वक्त, दूसरे दिन, तीसरे दिन नौकर भोजन के लिये बुलाने दूकान पर गया तो सेठजी ने यही कहलाया कि वे बीदणी की इच्छा पूरी करने के लिये यत्न कर रहे हैं। वह इच्छा पूरी नही कर दें, तब तक भोजन नही करेंगे। इस पर पुत्रवधू ने भी तेला कर लिया। तीन दिन इस तरह गुजर जाने पर पुत्रवधू के विचारो का प्रवाह बदला। उसने भोजन करना छोड़ा, जेवर उतारे, कीमती वस्त्र उतारे और पुन. अपनी सादी अवस्था मे चली गई। इस सादगी से उसके मन का तूफान थम गया, वह फिर शान्त हो गई। वह अपनी विकार-स्थिति पर पश्चाताप करने लगी। तप की भावना ने उसके मन को फिर निखार दिया।

दूसरे दिन उसने सादा भोजन बनाया और सेठजी को बुलाने भेजा तो उन्होने वही उत्तर दिया कि अभी पुनर्विवाह के लिये कोई योग्य पात्र बैठा नही है, काम होने पर ही मैं आऊगा। तब स्वय सादे वेश मे वह वहा पहुची और पश्चाताप—पूर्ण कंठ से रुंधे हुए स्वर मे उसने निवेदन किया कि मुझे कोई पुरुष नही चाहिये। मैं ही पुरुष हूं—आपका पुत्र हू-आप मेरे धर्मपिता हैं। मैं विकारों मे बहक गई थी, अब स्थिरता से स्थान पर आ गई हूं। आप निश्चिन्त हो जाइये। सेठजी की हार्दिक प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा।

तो ऐसा होता है तप का भावनापूर्ण प्रभाव जो स्व व पर दोनो के जीवन को विकारो के झंझावात मे से खींच कर बाहर निकाल देता है तथा विकार मुक्ति की दिशा को प्रशस्त बना देता है।

शुद्ध तप से दोहरा लाभ :

भावना के साथ तपाराधन किया जाता है तो उससे आध्यात्मिक

भर को देख लेने पर उस का सारा का सारा चित्र हूबहू वैसा का वैसा ही बना दे सकता है। यदि रत्ती-भर भी कोर-कसर उस में रह गई, तो फिर उस कला की निपुणता ही क्या ? महारानी के इस चित्र को भी उस ने इसी प्रकार बनाया है। इस में और कोई रहस्य नहीं"

चित्रकार को देश-निकाला

अन्त में चित्रकारों की दलीलें राजा को रुच गई। उस ने प्राण-दण्ड की आज्ञा को बदल केवल उस के दाहिने हाथ के अंगुठे को कटवा कर अपने राज्य से निर्वासित कर देने की राज-घोषणा की। तदनुसार उस का अंगुठा कटवा कर राज्य से उसे निर्वासित कर दिया गया।

प्रतिशोध की संकल्प-साधना

राजा का यह कठोर व्यवहार चित्रकार को बड़ा ही अखरा। उस ने मन ही मन अपने उस घोर अपमान का राजा से बदला लेने का दृढ सकल्प किया। शनैः-शनै. अब उस ने अपने बांऐ हाथ से चित्र बनाने का अभ्यास आरम्भ किया। "Practice makes a man" अर्थात 'अभ्यास ही से मनुष्य बन सकता है'। बदला लेने का दृढ़ संकल्प, काम में सफलता पा लेने का अटल-विश्वास और जी-तोड़ परिश्रम की त्रिवेणी तट पर उस की वर्षों की साधना आज सफल हुई। अब तो वह अपने बाऐ हाथ से भी मनमोहक चित्र बनाने लगा। जैसे कि वह अपने दाहिने हाथ से कभी निकालता था।

उज्जैन नरेश चंद्रप्रद्योत के दरबार में

इस बार उस ने फिर से उसी मृगावती का एक अति ही मन-

रहना चाहिये । तप की आन्तरिकता को हृदयंगम करके ही उसके बाह्य स्वरूपों पर आचरण किया जाना चाहिये, ताकि तप की वास्तविक प्राभाविकता प्रकट हो सके । विकार हटेंगे तभी जीवन का सच्चा निर्माण हो सकेगा और तभी प्रभु की सच्ची विनति भी हो सकेगी । आत्मा और परमात्मा की घनिष्ठता को सम्पादित करने का एक ही उपाय है कि निर्विकार अवस्था की प्राप्ति की जाय ।

गंगाशहर–भीनासर
दि० २३–११–७३

मृगावती या युद्ध ?

राजा ने थोडी ही देर के पश्चात् कौशाम्बी के पास अपने एक दूत को भेजा। जिस के द्वारा उस ने वहाँ कहला भेजा कि–

"मृगावती को उज्जैन के अन्तःपुर में इस सन्देश के पाते ही भेज दिया जाय। नहीं तो युद्ध की तैयारी की जाय।"

ज्यों ही दूत ने दरबार में पहुच कर इस सन्देश को सुनाया। राजा के शरीर में सिर से पैर तक आग लग गई। एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी धर्म के आश्रय में पल-पुस कर ऐसी अपमानजनक बातों से अपने धर्म, पौरुष और इज्जत की तौहीन समझता है। जब एक राजा तो इस अपमान को सहन फिर कर ही कैसे सकता ? उस ने पचासो बातें दूत को खरी-खोटी सुनाई और उसी क्षण अपने दरबार से उसे निकलवा दिया।

यदि विचार पूर्वक देखें, तो जान पडेगा कि महाराज शतानिक को क्रोध कोई उस दूत के उपर नहीं था। यह तो अप्रत्यक्ष-रूप से उज्जैन के महाराज का अपमान था।

कौशाम्बी का घेराव और शतानिक की मृत्यु

दूत उज्जैन को लौट आया। उस ने अथ से इति तक सारी घटना राजा से ज्यों की त्यों कह सुनाई। चंडप्रद्योतन भी इसी अवसर की टोह में था। उस ने उसी काल अपनी सेना के नाम कमर कस कर कौशाम्बी के ऊपर चढ-दौडने की राज-घोषणा निकाली। राजा ने स्वयं सेनापति का काम अपने सिर-कन्धो लिया। पडाव पर पडाव डालते हुए चंडप्रद्योतन ने दल-बादल के साथ कौशाम्बी को घेरा। उज्जैन के सैनिक-बल को सुन और देख कर शतानिक का सीना

विज्ञान का उन्हें काफी ज्ञान हो सकता है कि कैसे यंत्रों का आविष्कार हुआ एव कैसे उनका निर्माण होता है और वे उस विज्ञान को महत्व भी देते हो, किन्तु भौतिक विज्ञान को उनके द्वारा दिया जाने वाला महत्व मानव-जीवन के अमित महत्व के समक्ष शून्य है ।

मानव तन का वैज्ञानिक महत्व :

भौतिक विज्ञान को ही महत्व देने वाले लोग भी यदि अपनी दृष्टि को वास्तविक बनावें और यह विचार करें कि यह मानव तन की उपलब्धि जो मुझे हुई है, भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी उसका महत्व सर्वाधिक है, तब भी मानव जीवन के सदुपयोग के सम्बन्ध मे एक स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण किया जा सकता है । इस मनुष्य-तन के विज्ञान से बढकर और कोई विज्ञान नहीं है । यह प्रत्यक्ष फल है । इस मानव-तन की महत्ता के सम्बन्ध मे पूर्व के महापुरुषों ने विशिष्ट बातें कही हैं तो उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर ने उद्घोषणा की है कि—

"चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणि य जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्दा; संजमम्मि य वीरयं ।।"

अर्थात् प्राणियो के लिये चार अंगो की उपलब्धि दुर्लभ है । इन चार अंगो मे पहली दुर्लभ उपलब्धि बताई गई है मनुष्य तन की याने कि मनुष्य तन और जीवन बडी कठिनाई और पुण्यो की बडी कमाई से ही प्राप्त हो सकता है । इसके बाद श्रुति याने शास्त्रो का श्रवण, श्रद्धा एवं संयम मे पराक्रम की उपलब्धियो का क्रम लिया गया है । इन चारो मे भी मनुष्य तन का इस कारण अधिक महत्व एव मूल्य है कि इसी के आधार पर बाकी के तीनो अगो को प्राप्त किया जा सकता है । मानव-तन इस प्रकार सर्वोच्च प्रगति का मूलाधार है ।

मानव-तन का यही वैज्ञानिक महत्व है कि यही सम्पूर्ण प्रगति का सशक्त साधन है । सारी वैज्ञानिक प्रगति का भी यही तन आधार है । इसी तन की सहायता से मनुष्य भौतिक विज्ञान की विशाल उपलब्धियां प्राप्त करता है तो मानव तन मे ही महान् आध्यात्मिक उपलब्धिया प्राप्त करके वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता है । भौतिक विज्ञान की प्रगति के दुरुपयोग की बात अलग है, वरना यदि इस प्रगति का भी सर्व प्राणियो के हित की दृष्टि से स्वस्थ उपयोग किया जाय तो उससे भी आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त बनाया जा सकता है ।

उस ने खुद वादी। उस में पानी भरवा दिया। किसी राज्य की रक्षा उस की सेना और अस्त्र-शस्त्रों ही पर निर्भर रहती है। यह सोच कर सेना और अस्त्र-शस्त्रों की उस ने अकथक वृद्धि की। सेना को शास्त्रीय ढंग से सर्वांगीण सैनिक शिक्षा दी गई। अन्नादि रसद का इतना प्रबन्ध और संग्रह कर लिया गया, कि वर्षों तक शत्रु का सामना करते रहने पर भी राज्य को रसद का अभाव न अखरे। यूं मृगावती ने राज्य की नींव को चारों ओर से पुख्ता कर लिया।

उज्जैन का दूतः कौशाम्बी में

दीवाल के भी कान होते हैं। होते-होते एक दिन चण्डप्रद्योतन भी इस सारी घटना को सुन पाया। यूं सुन कर उस की आंखें खुलीं। उसी समय एक दूत के द्वारा मृगावती को उस ने अपने यहां बुला भेजा, किन्तु आज के राजपूतों की भांति—

"खेल गये, बरछा गये, गये तीर-तलवार।
घडी, छडी, चश्मा, चुरट छत्रिन के हथियार॥

मृगावती तो कोई थी नहीं। उस के शरीर का जर्रा-जर्रा विशुद्ध राजपूती खून से बना हुआ था। उसने उज्जैन-नरेश के दुस्साहस एवं कुकर्मों की भर पेट निन्दा की और उसी क्षण दूत को अपने दरबार से निकलवा दिया। दरबारियों ने भी रानी के कथन का सोलह आना समर्थन किया।

युद्ध-निमंत्रण

साथ ही उसी दूत के हाथ उन्हों ने कहला भेजा कि—

"हम क्षत्रिय लोग हैं। युद्ध में जूझ कर खेत रहना और वीर-गति का पाना हमें अपनी जन्म-घुटी के साथ पिलाया गया है। प्राणों के मोह से शरण जाना तो हम ने कभी भूल कर भी नहीं सीखा।

स्वरूप को हृदयंगम करने के लिये ऐसे शुद्ध प्रणिधान की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक होता है कि प्रणिधान को विपरीत दिशा मे न जाने दिया जाय क्योंकि वैसी स्थिति मे वह विकृत बनकर अशान्ति एव अशुभ कर्म बन्धन का कारण बन सकता है । यदि सही दिशा नहीं है तो आत्मा उस प्रणिधान को मलिन बनाती हुई सातवी नरक के कष्ट-कुण्ड मे भी गिर सकती है । जहा सही दिशा मे जाने पर यह मानव-तन अनुपम प्रगति का साधन बन सकता है, वहां इस तन का दुरुपयोग करके आत्मा दु खानुदु.ख की स्थिति को भी प्राप्त कर लेती है । इसलिये प्रणिधान की शुद्धता का सदैव ध्यान रहना चाहिये । मिट्टी के तन में पवित्र मन का निर्माण करके इस तन को अमूल्य बना देने का यही अभिप्राय है ।

मूल्यांकन की विपरीतता :

जिन आत्माओ ने इस मनुष्य तन एवं जीवन का सही मूल्याकन नही किया है, वे इस तन को अपनी वासनाओं की पूर्ति का साधन मानकर चलती हैं । एक बार इस जीवन को वासनाओ के अधीन बना दिया तो फिर समझिये कि यह उनके पीछे अधी हो जायगी । फिर नीति-अनीति का कोई विवेक नही रहेगा । येन-केन प्रकारेण वासनाओ की पूर्ति ही जीवन का ध्येय बन जायगा । ऐसा ध्येय सभी प्रकार से मानव जीवन का अपव्यय ही करेगा । यह मानव-तन जो एक बहुत बडी शक्ति सिद्ध हो सकता है, मूल्याकन की विपरीतता के कारण नरक गमन का कारणभूत बन जाता है। ऐतिहासिक या धार्मिक कथाओ की दृष्टि से ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जहा इसी मूल्याकन की विपरीतता के कारण बडे-बडे व्यक्ति दुर्गति मे चले गये ।

देखिये, रावण ने भी एक तरह का प्रणिधान किया था और उसने पहले नीति का अवलम्बन लिया एव बाद मे वह अनीति के साथ चल पडा । उसने अमूल्य मानव-तन एवं जीवन का सदुपयोग नही किया । वासना के वशीभूत होकर उसने अपने जीवन के साथ खिलवाड किया तथा दूसरो के जीवन के साथ धोखा । साधारण रूप से यही समझा जाता है कि रावण ने महा-सती सीता के साथ धोखा किया, किन्तु वास्तविकता से देखें तो यह धोखा उसने अपनी ही आत्मा के साथ किया । यह सीता की प्रवचना नही थी, उसकी स्वय की प्रवंचना थी । आन्तरिक रूप से सोचें तो उसने सीता को सकट मे नहीं डाला, बल्कि अपने कुकृत्य से स्वय ही सकट मे गिर गया ।

यह मैं एक दृष्टि से कथन कर रहा हूं, पर एक ही बाजू को मत

उदायन का राज्याभिषेक

मृगावती ने उसी समय दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। यह सुन कर राजा को बडा ही हर्ष हुआ। उस ने स्वय उदायन को कोशाम्बी के राज-सिहासन पर बिठा कर राज्याभिषेक-महोत्सव मनाया। मृगावती ने भी राजा को सदैव इसी प्रकार उदायन के ऊपर अपनी कृपा-दृष्टि बनाये रखने का सन्देश दिया और अभिवचन चाहा। इस पर उज्जैन के महाराज ने हर प्रकार से उसे विश्वास दिला दिया।

रानी मृगावती की दीक्षा

अब अपने पुत्र की सम्मति ले कर भगवान् के समीप साध्वीश्री चन्दनबाला के हाथों मृगावती ने अपने अतुलित राजसी वैभव को बात की बात में लात मार कर दीक्षा धारण की। उस ने अपने मुख पर मुख-वस्त्रिका बाधी और हाथ में रजोहरण लिया। पुण्यों की प्रबलता और भगवान् की शरण को पाकर थोडे ही दिनों में शास्त्रीय ज्ञान में उस की अच्छी पहुच हो गई।

एक भ्रम:दोपहरी या संध्याकाल ?

एक दिन भगवान् की सेवा में साध्वी श्रीमती चन्दनबालाजी और साध्वी मृगावती भी उपस्थित थीं। उस समय भगवान् की सेवा में 'सूर्य-देव' भी आया। तब सायकाल हो ही रहा था। परन्तु स्वय सूर्यदेव के वहा बैठा रहने से साझ भी मध्याह्न सी जान पड़ती थी। उसी अवसर पर साध्वी श्री चन्दनबालाजी तो कुछेक सतियों को साथ ले कर वहा से उठ खड़ी हुईं और पौषधशाला में आ गईं। किन्तु सती मृगावतीजी अन्य सतियो के साथ वहीं मध्याह्न का भ्रम जान

अशान्ति, पारिवारिक अशान्ति और जीवन सम्बन्धी अनेक अशान्तियों के घेरे में आज मानव की आत्मा तडप रही है। किन्ही अन्य देशो मे आर्थिक अशान्ति समाप्त की जा सकी है, और बताया जाता है कि वहा के राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन मे नैतिकता और ईमानदारी है। वे अपनी समस्याओ को सुलझाते हैं तो निष्ठापूर्वक सर्वहित की दृष्टि से सुलझाते हैं। अपने जीवन को वे व्यापक तौर पर उपयोगी बनाते हैं। कई देश ऐसे भी हैं जहा आर्थिक अशान्ति नहीं है, किन्तु वहा मानसिक शान्ति भी नही आ सकी है। तो ये सब विभिन्न परिस्थितियां प्रणिधान की शुद्धता अथवा अशुद्धता के आधार पर निर्मित होती है। प्रणिधान जितना शुद्ध होगा, उतने ही अश मे जीवन के व्यापक हित की दिशा मे सदुपयोग की निष्ठा रहेगी और वैसी अवस्था मे कठिन से कठिन समस्याए भी—चाहे वे वैयक्तिक हो, पारिवारिक हों या सामाजिक अथवा राष्ट्रीय हो, सहज भाव से सुलझाई जा सकती हैं।

अशान्ति में शान्ति कैसे अनुभवें :

अशान्तिपूर्ण वातावरण मे भी शान्ति का अनुभव किया जा सकता है यदि व्यक्ति अपने मन एव मस्तिष्क पर पूर्णतया नियन्त्रण रखे। यह नियत्रण जब नही रहता है, तभी वह कुछ भी विचार करता रहता है और उस अशान्त विचार के अनुसार मुह से कुछ भी निकाल देता है। मन-मस्तिष्क पर नियन्त्रण नही होता है तो वचन पर भी नियन्त्रण नही रहता और अपनी बोली के धधकते हुए अगारों से वह दूसरो को जलाता रहता है एव इस प्रकार अशान्ति के वातावरण को घना बनाता रहता है। बोली के ये धधकते अगारे एक ओर अन्दर के कोमल जीवन को झुलसाते हैं तो दूसरी ओर बाहर के शरीर को भी जलाते और नष्ट करते हैं। सबसे पहले तो यह नष्ट होने की स्थिति उसी मे होती है जिसका दुष्ट प्रणिधान होता है। मानव जीवन का विपरीत मूल्याकन करने वाला ऐसा व्यक्ति सोचता है कि वह उत्तेजना मे आकर जो मर्मकारी शब्दो का प्रयोग करता है, उनसे दूसरे के हृदय का भेदन करता है, किन्तु वह यह नही सोचता है कि वचनो के अगारे बरसाने से उसकी स्वय की शान्ति ही पहले नष्ट होती है। वह स्वय मे जलता है और उस जलन को दूसरो पर फैंकता है। ऐसी स्थिति मे दूसरा भी जब उस जलन को जितने अशों मे ग्रहण करता है तो वह भी उस रूप मे जल उठता है, लेकिन जो उस जलन को तनिक भी ग्रहण नही करता है तो वह अपनी शक्ति और शान्ति को बचा लेता है। फैंके हुए अशान्ति के अगारो के बावजूद भी वह अपने जीवन मे शान्ति का निरन्तर अनुभव करता रहता है।

इतना भी समय नहीं लगता।

सती मृगावती का पश्चात्ताप और केवल-ज्ञान

उसी रात में पश्चात्ताप करते ही करते सती मृगावतीजी को 'केवल-ज्ञान' की प्राप्ति हो गई। अन्त करण में उस के उदय होते ही सारा ससार उन्हे हाथ की रेखा के समान दीख पडने लगा।

सती चंदनबाला के निकट विषधर—सांप

उसी क्षण एक घटना घटी। एक महान् विषधर सांप सती चन्दनबालाजी के हाथ के बिलकुल निकट ही से निकलने वाला था, कि घट रात के उस घने अन्धकार में सती मृगावतीजी ने उनका हाथ ऊपर की ओर को उठा लिया। यह सब उन के केवल-ज्ञान ही का प्रभाव था। परन्तु हाथ के उठते ही सती चन्दनबाला जी की नींद टूट गई। पास ही में बैठी हुई सती मृगावती जी को उन्हों ने अनुभव किया।

सांप से अंग-सुरक्षा

परन्तु अन्धकार में वे कौन थी? पहचान न सकीं।

अत उन्हों ने पूछा—"कौन?"

"यह तो मैं-मृगावती-आपकी एक अकिंचन् शिष्या हूं।" सती मृगावती जी ने उत्तर दिया था।

"क्या तुम अभी तक सोई नहीं? मेरे हाथ को उपर क्यो उठाया?"

"आपके हाथ की ओर एक भयकर सांप आता देख कर मैंने ऐसा किया।"

बिगडता है। सीताजी अगर रावण के कुछ भी भावों को पकड लेती तो वह उस आग मे अवश्य जल जाती। उन्होने रावरण के भावो को तनिक भी नही पकड़े और स्वय के भावो मे पूर्णत. अविचल रही तो आग उनका कुछ नही बिगाड़ सकी।

जब प्रणिधान शुद्ध रहता है तो आत्म-विश्वास एवं साहस भी अपूर्व बन जाता है। ऐसी अवस्था में शान्ति के सामने अशान्ति हार खाती है और उस अशान्ति को आरम्भ करने वाला व्यक्ति ही उसकी आग मे जल उठता है। रावण ने जो कुछ किया, उसकी जलन से वही राख हुआ। आज सबको शान्त मनोवृत्ति के निर्माण के सम्बन्ध में चिन्तन करना चाहिये और अशान्ति पैदा करने वाले स्वभाव को संसार एवं धर्म के दोनो क्षेत्रो में परिवर्तित करना चाहिये। धार्मिक क्षेत्र मे ही समझिये कि जब आप रोज अखूट शान्ति देने वाली वीतराग वाणी का श्रवरण करते हैं, और पोषध व्रत लेते हैं फिर भी बात-बात पर मूछें तानने लगें तो क्या इसे तांडव नृत्य नही कहेंगे ?

यही विडम्बना की स्थिति है कि आत्मा अशुद्ध प्रणिधान में चलकर अपना ही अहित करती रहती है। इस अशुद्ध प्रणिधान में चलता हुआ मानव शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता है। इस कारण मनुष्य को शब्दो की ज्वालाएं नही छोडनी चाहिये और दूसरा छोडता हो तो उत्तेजना नही लानी चाहिये—अपनी शान्त मनोवृत्ति बनानी चाहिये जिससे समूचे वातावरण मे शान्ति रहे।

सही दिशा में शक्ति का नियोजन :

मनुष्य के मन और मस्तिष्क में जब शान्ति कुछ स्थायित्व ग्रहण करती है तो उसका सबसे बडा लाभ यह होता है कि शक्ति का अपव्यय नही होता तथा उसका सही दिशा में नियोजन होने के कारण व्यक्ति एव समाज दोनो के लिये विकासोन्मुख परिस्थितियां तैयार होती हैं। जीवन मे जब शुद्ध प्रणिधान नहीं रहता तो सांसारिक प्रवृत्तियो में बिगाड और गिरावट आती है। भारत मे आर्थिक दशा का डांवाडोल होना क्या इसी तथ्य का संकेत नही है ? मैं कह रहा था कि विदेशों के लोग आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न क्यो हैं ? इसमें अनेक कारण रहे होंगे किन्तु एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि विदेशों में लोग व्यर्थ की बातो मे नहीं पडते, एक दूसरे को गिराने की कोशिश नही करते तथा नैतिकता के अपने सामान्य स्तर को बनाये रखते हैं, जब कि भारत

इस बात के प्रत्यक्ष और प्रमाणिक प्रमाण हैं। इन दोनो महासतियो ने अपनी आत्मा की आन्तरिक पुकार से पश्चात्ताप और मिच्छामि-दुक्कडं किया। उन्हीं के प्रताप और प्रभाव से इन्हें केवल ज्ञान रूपी अटूट और अलौकिक सम्पत्ति मिल पाई। क्या हम भी इन के इस चरित्र को पढ कर अन्त करण से मिच्छामि दुक्कड तथा प्रायश्चित करने की शैली को अपने दैनिक व्यवहार में उतार ने की चेष्टा करेंगे ?

भगवान् ! हम भूले-भटके संसारियों के लिए इन महासतियों का यह आदर्श चिरन्तन-काल के लिए दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम देता रहे।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] महाराज शतानिक के समय की कौशाम्बी के वैभव का वर्णन करो।

[२] चित्रकार की कला-मर्मज्ञता उस के प्राणों की ग्राहक कैसे बन बैठी ?

[३] कला और विद्या का अन्तर बताओ।

[४] चित्रकार के वर्षों की साधना कैसे फली ?

[५] चित्र को देख कर चण्डप्रद्योतन के मन में जो भाव पैदा हुए, उनका थोडे में वर्णन करो।

[६] शतानिक ने चण्डप्रद्योतन का अपमान कैसे किया ?

[७] "अबलाएं, अबलाएं नहीं बरन् सबलाएं होती हैं।" मृगावती की समय-सूचकता से इस बात को सिद्ध करो।

[८] सच्चे राजपूतों की आन-बान-मान और शान का कुछ

चिल्लाया—गुरु जी, गुरु जी, आपके पैर से मेंढक मर गया है। गुरु जी तपस्वी थे, उन्होने पीछे मुडकर देखा कि यह पैर तो पडा मगर उन्होने दूसरा पदार्थ समझ कर पैर दिया जो मुर्दा कलेवर था। मुर्दा कलेवर होने से पैर अचित पदार्थ पर ही पडा। शिष्य यह कैसे सहन करता, ईर्ष्यावश बोला—गुरु जी, आपका पैर पडा सो तो अचित पर पडा। अभी मेरा पडता तो मुझे टोक देते कि देखकर नही चलता है। यह मेंढक आपके पैर से ही मरा है, आप प्रायश्चित करलो।

तो तपस्वी तपस्या कर रहे थे और अपने शरीर को सुखा रहे थे लेकिन अन्दर के प्रणिधान से शून्य थे। जितना बल, जितनी शक्ति उनकी अनशन तप मे लग रही थी, यदि उतनी ही शक्ति अन्दर के प्रणिधान मे सुव्यवस्थित रूप से लगती तो वह आत्मिक विकास कुछ और ही होता। किन्तु उनमे अन्दर के प्रणिधान की सज्ञा कमजोर रही। फिर भी जैसा प्रणिधान था, उस स्थिति मे वे उस समय खामोश रहे। फिर श्रावकों के घर भिक्षा के लिये पहुचें तो शिष्य फिर उसी तरह चिल्लाने लगा कि गुरु जी पहले प्रायश्चित तो करलो। गुरु जी फिर खामोश रहे। दोनो वापिस अपने स्थान पर आ गये तो गुरु जी ने शिष्य को वास्तविकता समझाई, परन्तु शिष्य के मन मे तो आग भरी हुई थी, वह चाहता था कि गुरु जी उससे भस्मीभूत हो जाय। सायकाल प्रति—क्रमण के समय वह फिर कहने लगा—गुरु जी, प्रायश्चित लो। प्रत्याख्यान के समय फिर पूछा—आपने मेढक मारने का प्रायश्चित लिया या नही? अब तो तपस्वी जी की खामोशी टूट गयी। इस प्रकार बार-बार चिढाने से वे अपना सन्तुलन खो बैठे। शिष्य के शब्द रूपी अगारो को पकड कर वे भी जलते हुए उत्तेजनापूर्वक बोले—अरे दुष्ट, तू मुझको ऐसा कहता है?

बस फिर क्या था? शिष्य तो अगारे फैंक ही रहा था—जब तक तपस्वी जी उन्हे नही पकड रहे थे तब तक तो उनका कुछ नही बिगडा। लेकिन जब अगारों को उन्होने पकड लिया तो वे आवेश से उत्तेजित हो गये और शिष्य को दण्ड देने के लिये ऊपर कवेलु की छत मे से लकडी का डण्डा निकालने के लिये उठे। कवेलु की छत लकडी के डण्डो व बांसो पर बनी हुई होती है। आवेश के कारण ध्यान नही रहा और तपस्वी जी का सिर थम्भे से टकरा कर फूट गया तथा उनका वही प्राणान्त हो गया। वे शिष्य को तो दण्ड नहीं दे सके किन्तु उसकी लगाई हुई आग मे खुद ही झुलस गये। जब मृत्यु हुई तो उनकी परिणाम धारा कषाय की आग मे जल रही थी।

'महासती श्री चेलनाजी'

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष के पहले 'महाराज चेटक-चेडा' की राजधानी 'विशाला नगरी' थी।

स्याद्वादी रानी चेलना

इस राजा के सात लड़कियां थीं। उन में से दो का नाम 'त्रिशला' और 'चेलना' था। त्रिशला क्षत्रियकुंड ग्राम के राजा 'सिद्धार्थ' को ब्याही गई थी और चेलना 'राजगृही' के सम्राट 'श्रेणिक' को। त्रिशला और सिद्धार्थ दोनों 'स्याद' के सिद्धान्तों को मानते थे। किन्तु चेलना और श्रेणिक दोनों के सिद्धान्तों में मतभेद था। चेलना 'स्याद्वाद' के पक्ष में थी, किन्तु श्रेणिक उस के विपरीत पक्ष को मानता था।

पति-पत्नी दोनों में परस्पर सदा-सर्वदा स्वपक्ष-विपक्ष सम्बद्ध खण्डन-मण्डनात्मक तीव्र नोक-झोंक चला करती थी।

सच्चे गुरू कौन ?

रानी चेलना का पक्ष ठोस और स्पष्ट धारणाओं की पुष्टि देता था। वे हमेशा कहा करती थीं—

"गुरु वे ही हैं, 'जो अहिंसा-धर्म पूरा-पूरा पालते हों, जो कभी झूठ न बोलते हों, जो चोरी न करते हों, जो परिग्रह न रखते हों, जो ब्रह्मचर्य के दृढ़ उपासक हों, जो किसी भी धातु की कोई भी वस्तु

धीरे से शान्ति से वचनों का प्रयोग करते हैं। वे सोचते हैं कि कहीं हमारी ज्यादा शक्ति खर्च न हो जाय। मैंने स्वय ने इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। जब युगद्रष्टा आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. बाठिया-हाल मे बिराज रहे थे तब एक अंग्रेज उनके पास आते थे। वे बहुत ही धीरे से बोलते थे—जैसे उनके सिर्फ होठ ही हिल रहे हो। उन्हे कुछ जुकाम था लेकिन शिष्टता इतनी थी कि बराबर कपडा रखते और श्लेष्म वगैरा का एक छींटा भी इधर-उधर नही गिराते थे। कहने को अंग्रेजो को लोग अनार्य कह देते हैं लेकिन उनके जीवन का भी अपना मूल्याकन है। उनके जीवन मे जो शान्ति, शिष्टता और सभ्यता दिखाई देती है, इन गुणो को उनसे ले सकते हैं।

शिष्टता और सभ्यता को भली प्रकार जीवन मे उतारने से शक्तियो का अपव्यय रुक जायगा तथा वे संचित शक्तियां जीवन को अधिक सुदृढ बनावेगी।

दुर्लभ मानव-जीवन का सदुपयोग करें :

अपने प्रणिधान को शुद्ध एव शान्त बनाने की दृष्टि से सोचें कि मैं अपनी शक्ति को व्यर्थ की बातो मे व्यय न करू। मुझे तो अपनी गति से जाना है—दुनिया मेरी प्रशसा करे या निन्दा—उससे सही रूप मे प्रभावित होना है। अगर वास्तविक निन्दा हो रही है तो अपनी त्रुटियो को निकाल कर जीवन को स्वच्छ बनाऊ और झूठी निन्दा है तो उस ओर ध्यान ही न दू। प्रशंसा हो तो उन गुणों को प्राप्त या अभिवृद्ध करने का प्रयास करूं। प्रत्येक परिस्थिति मे अपनी शान्ति को बनाये रखू।

यदि ऐसा शुद्ध प्रणिधान स्थायी रूप से बन जाता है तो यह दुर्लभ मानव जीवन साधक बन सकता है। मनुष्य तन मिला है तो मनुष्यता तो आनी ही चाहिये। शुद्ध प्रणिधान रहे तो देवत्व भी दूर नही रहता है।

गंगाशहर-भीनासर
दि० २१-११-७३

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष के पहले 'महाराज चेटक-चेड़ा' की राजधानी 'विशाला नगरी' थी।

स्याद्वादी रानी चेलना

इस राजा के सात लड़कियां थीं। उन में से दो का नाम 'त्रिशला' और 'चेलना' था। त्रिशला क्षत्रियकुण्ड ग्राम के राजा 'सिद्धार्थ' को व्याही गई थी और चेलना 'राजगृही' के सम्राट 'श्रेणिक' को। त्रिशला और सिद्धार्थ दोनों 'स्याद' के सिद्धान्तों को मानते थे। किन्तु चेलना और श्रेणिक दोनों के सिद्धान्तों में मतभेद था। चेलना 'स्याद्वाद' के पक्ष में थी, किन्तु श्रेणिक उस के विपरीत पक्ष को मानता था।

पति-पत्नी दोनों में परस्पर सदा-सर्वदा स्वपक्ष-विपक्ष सबद्ध खण्डन-मण्डनात्मक तीव्र नोंक-झोंक चला करती थी।

सच्चे गुरू कौन ?

रानी चेलना का पक्ष ठोस और स्पष्ट धारणाओं की पुष्टि देता था। वे हमेशा कहा करती थीं—

"गुरु वे ही हैं, 'जो अहिंसा-धर्म पूरा-पूरा पालते हों, जो कभी झूंठ न बोलते हों, जो चोरी न करते हों, जो परिग्रह न रखते हों, जो ब्रह्मचर्यव्रत के दृढ़ उपासक हों, जो किसी भी धातु की कोई भी वस्तु

भी बढा सकता है । शुद्ध प्रणिधान की तरफ आत्मा का विकास होने पर वह अन्ततोगत्वा चरम सीमा की चिर शान्ति प्राप्त करती है एव परम आल्हादित होती हुई विशुद्ध अन्तरानन्द का अनुभव करती है । जो कुछ भी उस परम शान्ति एव आनन्द की स्थिति का प्रसंग है, वह प्रणिधान की शुद्धता पर ही निर्भर करता है ।

प्रणिधान की परिभाषा एवं प्रकार :

प्रणिधान का तात्पर्य ऐसे तो परम निधान लिया गया है । प्रकर्ष, उत्कृष्ट व सर्वश्रेष्ठ जो निधान है, शक्ति की दृष्टि से वह प्रणिधान कहा गया है । इसमे शक्ति दो तरह की होती है—एक शक्ति भौतिक पदार्थों की और दूसरी आध्यात्मिक स्वरूप की शक्ति ।

जहा भौतिक पदार्थों की शक्ति है, उसकी ऊर्जा की स्थिति को भी मनुष्य सचित करता है और उसके माध्यम से वह ससार को कुछ न कुछ सहायता पहुचाने की चेष्टा करता है । जबकि आध्यात्मिक प्रणिधान के साथ वह आध्यात्मिक ऊर्जा को सचित करके एव उस ऊर्जा को विस्तृत बना कर ससार के समस्त प्राणियो को अत्यधिक लाभ पहुचा सकता है । भौतिक ऊर्जा बाह्य स्वरूप को लाभ पहुचाती है तो आध्यात्मिक ऊर्जा जीवन के अन्तरंग रहस्यो को खोजती हुई अन्त करण की गहराइयो मे सच्ची शान्ति का सचार करती है । इस ऊर्जा के प्रवाह को जितनी अधिक मात्रा मे सचित किया जा सके—इसे जितना अधिक शक्तिशाली बनाया जा सके, उतना ही प्रणिधान की शुद्धता का स्वरूप निखरता जायगा ।

आप सोचिये कि इन्जीनियर वगैरा मिल कर एक बहुत बडा बाध बनाते हैं और उस पर पॉवर हाऊस भी बनाते हैं जहा बिजली की शक्ति का उत्पादन भी होता है तथा उसका सचय भी किया जाता है । यद्यपि पानी के वेग की प्रक्रिया से बिजली पैदा की जाती है, किन्तु जब उसका पॉवर हाऊस मे सचय किया जाता है तो उसके वितरण पर भी नियन्त्रण होता है जितने पॉवर के साथ उसका वितरण करना हो वह किया जा सकता है । विद्युत् वेग पूर्ण सशक्त धारा मे भी प्रवाहित किया जा सकता है तो उसे मन्द धारा मे भी बहा सकते हैं । उस प्रवाहमान बिजली का नाप भी होता है । जब बिजली फुल पॉवर मे जा रही हो और उसके खुले तारो से मजबूत पदार्थ भी छू जाय तो वह जल उठता है । मनुष्य या अन्य प्राणी भी यदि बिजली की करेन्ट से प्रभावित हो जाय तो उसका प्राणान्त हो जाता है । परन्तु यदि
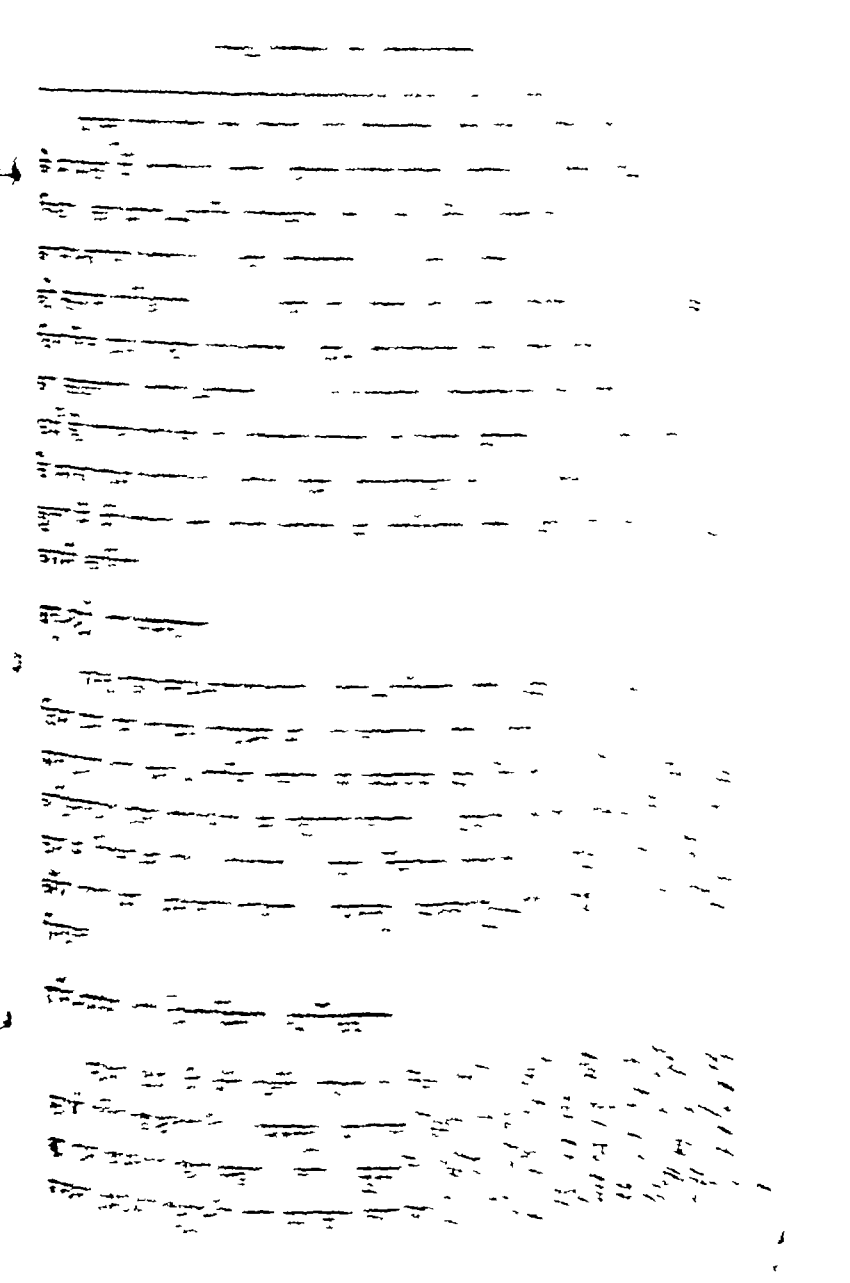
करे तो कल्पना कीजिये कि वह कितना भयावह हो सकता है ? इस तुलना मे विचारणीय तथ्य यह है कि क्या भारी मेगाटन शक्ति वाले अणु-परमाणु बम अशान्तिकारक हैं अथवा स्वयं आत्मा की शक्ति अशान्तिकारक है ?

यदि आप गहराई से विचार करेंगे तो पता चलेगा कि ऐसी भयावह एवं अशान्तिकारक भौतिक शक्ति को पैदा करने वाली महती शक्ति स्वयं आत्मा है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे विभिन्न प्रयोग करने वाली तथा उन प्रयोगो को सफलता की सीढी पर चढाने वाली भी यही आत्मा है। आत्मिक शक्ति का ही प्रवाह है जो इन सारी शक्तियों को अपने नियन्त्रण मे रखकर मनुष्य-समाज को शान्ति-लाभ का अवसर प्रदान कर सकता है और यदि नियन्त्रण करने वाला आत्म-प्रवाह अविवेक की धारा मे बहता है तो वही सारे ससार को अशान्ति में डुबोकर विनाश की ओर भी धकेल सकता है। अत वास्तव मे आज ससार जिस स्थिति से भय खा रहा है, वह स्थिति और शक्ति बड़े-बड़े आयुधो तथा अणु-परमाणु बमो की नही है बल्कि इन्हें सचित करने वाली आत्माओ की है जो अपने अशुद्ध प्रणिधान से संसार के समक्ष महा-विनाश का संकट खडा करती है।

मूल में सर्वत्र यह आत्मिक शक्ति ही व्याप्त है। यदि आत्मा—चेतना शक्ति का प्रयास नहीं होता तो क्या वैज्ञानिक प्रयोग सफल हो सकते थे और क्या ऐसे बडे-बडे आयुधों का आविष्कार सम्भव था ? आत्मा जब अपने पुरुषार्थ से इस दिशा मे कार्यरत बनी तभी तो ये सारे आविष्कार सम्भव हुए। इनके पीछे अशुद्ध प्रणिधान भी कारणभूत है क्योकि इसी की वजह से आत्मा अपने शक्ति-प्रवाह को दुरुपयोग की दिशा मे मोड रही है। इसी कारण आत्म-शक्ति या आध्यात्मिक शक्ति का विद्युत् वेग भी अशान्ति पैदा करने वाला बना हुआ है।

अशुद्ध प्रणिधान का कुफल :

इसके सन्दर्भ मे भगवान् महावीर के समय के इतिहास को लें और उसकी वतमान परिस्थितियो से तुलना करें तो विदित होगा कि प्रणिधान के आधार पर आत्मा की पतिविधियो मे परिवर्तन होता रहा है। भगवान् महावीर के समय मे आत्मिक शक्ति अधिकाशत शुद्ध प्रणिधान के साथ क्रिया-शील रहती थी तो उसमें आभ्यन्तर एवं बाह्य नियन्त्रण की भी अपूर्व क्षमता ती थी जिससे जड या भौतिक शक्ति अनियन्त्रित नहीं बन पाती थी। उस

के लिए महलों में प्रवेश किया। उस समय रानी का इशारा पाकर उसकी एक दासी ने उन में से मुखिया गुरु की जूतियों को कहीं छिपा दी। भोजन के पश्चात् जब वे लोग जाने लगे, तब उन जूतियों के लिए बडी सरगर्मी से भाग-दौड़ मची। उसी समय अवसर जान रानी ने कहलाया—

"अजी महाराज। आप तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता हैं। तब आप को यह तक खबर नहीं कि आप की खुद की जूतिया कहा हैं? और जब इतना तक आप नहीं जानते, तो कल जो बात मेरे सम्बन्धियों के सम्बन्ध में आप ने कही थी। वह सत्य कैसे हो सकती है?"

रानी के इस सन्देश को सुन कर उन लोगों का सिर नीचा हो गया और वे सीधे वहा से चलते ही बने। राजा भी रानी की इस तार्किक बुद्धि को देख कर सिट-पिटा गया।

रानी का संकेत : गुरु का समाधान

एक बार रानी के गुरु महलों में गौचरी के लिए आये। रानी ने दूर ही से अपनी तीन अगुलियों के द्वारा उन्हे जिताया कि—

"यदि तीन ज्ञान के धारण करने वाले आप हों तो आईये, नहीं तो नहीं। क्यों कि राजा आप लोगों को छलने के लिए बैठा है।"

प्रत्युत्तर में उन मुनि ने अपनी चार अगुलियां दिखा कर उसे जतला दिया, कि—

"हमारे पास चार ज्ञान है।"

यूं कह कर वे आगे बढे। उसी समय राजा ने उन का स्वागत करते हुए कहा—

"पधारिये, महाप्रभु!"

शान्ति लाभ के लक्ष्य से करती है तो उससे वह अपनी भौतिक ऊर्जा पर भी भरपूर नियत्रण रखती है। इस प्रकार विवेकशील प्रयोग एव नियन्त्रण की दशा मे सारी ऊर्जा शक्ति को सही दिशा मे मोड कर कार्यरत रखने की चेष्टा की जाती है। ऊर्जा विनाश के रास्ते पर चले या विकास के मार्ग पर आगे बढ़े—उसकी शक्ति का व्यय तो वैसा ही है किन्तु उसकी गति को सही मोड देने के लिये अगर विवेकी मार्गदर्शक मिल जाय तो वह उसके प्रवाह को विनाश के रास्ते पर नही चलने देगा। कई आत्माओ मे सुषुप्त अवस्था होती है किन्तु हठवाद नही होता है—यदि ऐसी आत्माओ को सही मार्ग बताने वाला कोई मिल जाय तो उनके विवेक को जागृत बनाया जा सकता है तथा उनकी ऊर्जा शक्ति को विकास के पथ पर सक्रियता प्रदान की जा सकती है। ऐसी आत्माएं भी होती हैं जो एक सच्चा पथ-प्रदर्शक पाने की जिज्ञासा भी रखती है। वे जिज्ञासा वृत्ति से आध्यात्मिक दृष्टि को समझने की तैयारी भी रखती है।

किन्तु जब उन्हे अपने विवेक से अशुद्ध प्रणिधान पर नियन्त्रण रखना एवं विकास के मार्ग पर आगे बढना कोई सिखाता नही तो वे मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान की ओर चली जाती है। तब प्रणिधान तो रहता है, मगर अशुद्ध रहता है। विवेक के साथ मे प्रणिधान पर अगर बराबर नियन्त्रण रहे तो वही आत्मिक शक्ति विकसित होकर अपने दिव्य स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। यह अभिव्यक्ति अनिर्वचनीय होती है।

शुद्ध प्रणिधान से आगे की सीढियां :

यह अनिर्वचनीय अभिव्यक्ति कैसे प्रकट हो ? इसके लिये इन्सान को सही स्थिति अपनानी पडेगी। जो भी आत्मा स्थायी शान्ति चाहती है और स्थायी शान्ति को ससार मे वितरित करना चाहती है तो उसको शुद्ध प्रणिधान का निरन्तर ध्यान रखना होगा। इससे उसकी दृष्टि मे पहले समता आवेगी। समता की अवस्था सुदृढ बनने के बाद श्रुतज्ञान का प्रवेश होगा। श्रुत ज्ञान की सहायता से श्रुत धर्म एव चारित्र धर्म की खरी-खरी पहिचान हो सकेगी। जब श्रुत धर्म एव चारित्र धर्म को आत्मा अपने साथ सम्बन्धित करके उससे आन्तरिक ऊर्जा को प्रकट करने मे प्रयत्नशील बनेगी तो उन प्रयत्नो से ऊर्जा उत्पादित भी होगी और सचित भी। यह उत्पादन और सचय अपने-अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ के परिमाण से होता है।

मेरे कई भाई यह विचार तो करते है कि आत्मा का कल्याण करना [illegible] यह विचार उनके मन और मस्तिष्क मे स्पष्ट नहीं होता कि आत्म-

वैश्या को उस मकान में उस ने बन्द करवा दी और मकान को ताला लगवा दिया गया। रानी के पास पहुँच कर राजा ने मुनियों को चरित्र-हीन सिद्ध करने में कोई कोर-कसर न रक्खी। परन्तु जब रानी राजा की उन दलीलों से सहमत न हुई। तब तो कुछ आवेश दिखा कर राजा बोला—

"अच्छा! ठीक है। सुबह होते ही जान पडेगा कि तुम्हारे मुनि कैसे होते हैं?"

रानी ने इस पर भी विश्वास पूर्वक कहा—

"मेरे गुरु पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं? यह बात कभी हो नहीं सकती। परन्तु हां! ये चरित्रहीनता की बातें आप के गुरुओं पर तो भली-भाति लागू होती हैं।"

इस पर राजा ने चुप्पी साध ली और सुबह होने की प्रतीक्षा करने लगा।

मुनि द्वारा धर्म-रक्षा

उधर मुनि ने जब देखा कि यह काम किसी द्वेषी जीव की करामात का फल है। तब तो अपनी लब्धी को फोड़ कर वस्त्र तथा पात्रों को उसी समय भस्म कर दिया और अपने आप को राजा के गुरु के रूप में बदल लिया। उन्हों ने भस्म कर देने की धमकी दिखा कर वैश्या को अपने से दूर रहने की सूचना दी। वेचारी वैश्या मुनि के तप-तेज को देख कर डर गई और थरथराती हुई दुबक कर एक कोने में बैठी रही।

किसके गुरु?

प्रात'काल के होते ही राजा-रानी तथा अनेकों प्रतिष्ठित नागरिक

की शक्ति तो लगानी ही पडती है तथा शरीर के बल का भी उसमें व्यय होता है। तपाराधन के समय में वाचिक शक्ति पर भी नियन्त्रण रखना पडता है। कहने का अभिप्राय यह है कि शरीर से सम्बन्धित अनशन तप मे भी मन और वचन को भी उसी रूप मे नियन्त्रित एव आत्मानुशासित रखना चाहिये। मन, वचन और काया—इन तीनो की शक्ति पर जब नियन्त्रण एव सयम सधता है तभी अनशन तप का भी सफल आराधन कहा जा सकता है और तभी आत्म-नियन्त्रण की भी स्थिति बनती है।

इसलिये अनशन तप को भी मामूली न समझें। अनशन तप का भी आन्तरिक अभिप्राय यही होता है कि आत्मा की सम्पूर्ण वृत्तियो एव प्रवृत्तियो पर गलत दिशा मे जाने से अकुश लगे और सही दिशा मे क्रियाशील होने का दबाव पडे। इस रूप मे तप शुद्ध प्रणिधान को बनाये रखने मे विशिष्ट रूप से सहायता करता है।

अनशन का आन्तरिक अर्थ :

जिस आत्मा की रुचि पाचो इन्द्रियो के विषयो की ओर जा रही है तो उनकी पुष्टि के लिये वह व्यक्ति बराबर भोजन करना चाहता है—एक वक्त भी भूखा रहना नही चाहता है। वह सोचता है कि मैं भूखा रह जाऊगा तो मेरी शक्ति घट जायगी। किन्तु जो व्यक्ति यह सोचता है कि पांचों इन्द्रियो के पोषण मे मानव जीवन की सच्ची सार्थकता नहीं है बल्कि आत्म-स्वरूप को उज्ज्वल बनाने मे पुरुषार्थ लगाना चाहिये, वही व्यक्ति अनशन तप मे उपवास आदि करने का निश्चय करता है। वह ख्याल करता है कि मैं दिन मे तीन चार वक्त खाता हूं सो मेरे से उपवास कैसे होगा ? लेकिन वह निश्चयपूर्वक अपने पर नियन्त्रण करता है तो उपवास भी सफलतापूवक कर लेता है।

तो अनशन का सम्बन्ध चारित्र धर्म के साथ जुडता है। सम्यक् चारित्र का अर्थ यह है कि वह अपने अशुद्ध व्यापार को रोके तथा अपने पुरुषार्थ को शुद्ध व्यापार में लगावे। अशुद्ध व्यापार कैसे बनता है ? जो मोह के साथ पाचो इन्द्रियों के विषयो का पोषण करता है, वह अपने मन, वचन एव काया के योगो को अशुद्ध व्यापार मे लगाता है। किन्तु जो उस मोह के पोषण को रोक कर आत्मा की पुष्टि के लिये पाचो इन्द्रियो का दमन करता है एव उनकी गति को सयमित बनाता है, वह शुद्ध व्यापार की ओर बढता

११ 'महासती श्री पुष्पचूलाजी'

बीसवीं शताब्दी के पहले हमारे भारतवर्ष में पूर्व दिशा की ओर गंगा नदी के तट पर 'पुष्पभद्र' नामक एक बडा ही रमणीय नगर था। उन दिनों महाराज 'पुष्पकेतु' वहा के राजा थे। हो सकता है, इन्हीं महाराज के नाम पर राजधानी 'पुष्पभद्र' की नींव पडी हो। उन की रानी का नाम 'पुष्पावती', पुत्र 'पुष्पचूल' और पुत्री 'पुष्पचूला' थी।

एक शरीर : एक प्राण

इन दोनों भाई-बहिन के बीच इतनी गाढी और विशुद्ध प्रीति थी कि एक के बिना दूसरे को एक घडी-भर भी चैन नही पड़ता था। थोडे में एक को यदि हम शरीर कहें तो दूसरा उस का प्राण था। दोनों भाई-बहिन पढ़ने को जाते तो साथ-साथ, खाने को बैठते तो एक ही साथ, खेलने को निकलते तो साथ। यही नहीं उन की मनोवृत्ति भी एक ही सी थी। जब ये दोनों तरुणाई में आये, राजा ने इन दोनों के सम्बन्ध के लिए एक नया ही मार्ग ढूढ निकाला।

राजा का विचित्र-प्रश्न

राजा ने एक आम-दरबार भरा। उस में नगर के सभी प्रतिष्ठित पुरुष और राज-कर्मचारी उपस्थित थे। जब वे सभी लोग अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर आ-आ कर बैठ गये। राजा ने उन के सामने एक बडा ही विचित्र प्रश्न पेश किया। उस का आशय था,

चारित्र की आराधना की जाती है, उसे ही शुद्ध प्रणिधान की आराधना कह सकते हैं। इस शुद्ध प्रणिधान की आराधना मे आत्मा किस प्रकार से अपना योगदान दे ? कदाचित् किसी से उपवास नही होता हो—बेला और पचोला नही होता हो तो क्या वह शुद्ध प्रणिधान की साधना ही नही कर सकेगा ? यह विषय भी समझना आवश्यक है।

जब कोई भव्य आत्मा अपने जीवन मे शुद्ध प्रणिधान लाने की चेष्टा करती है तो उसके द्वारा तदनुरूप पुरुषार्थ करने का अवश्य प्रसग आयगा ही। वह पुरुषार्थ अनशन तप के रूप मे हो सकता है, तप के किसी अन्य प्रकार के रूप मे हो सकता है अथवा बारहो प्रकार के तप की आराधना के रूप में हो सकता है। इसके अलावा भी पुरुषार्थ का तपाराधन से सम्बन्धित एक मात्र ही रूप नही है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का क्षेत्र पुरुषार्थ—प्रयोग के लिये विस्तृत क्षेत्र है और इन सब की आराधना से ही शुद्ध प्रणिधान की आराधना सम्पादित की जा सकती है।

अशुद्धता और अशान्ति को हटावें :

जब तक आत्म-शक्ति पूर्णतया परिपुष्ट नहीं बनेगी, तब तक शुद्ध प्रणिधान के साथ अशुद्ध प्रणिधान भी आता रहेगा तथा अशान्ति उत्पन्न करता रहेगा, किन्तु पग पग पर इस अशुद्धता और अशान्ति से सघर्ष करते रहना पडेगा ताकि एक दिन जीवन मे से पूरे तौर पर इन दोनो विकारो को हटाकर इस सघर्ष का सफल अन्त किया जा सके। सघर्ष के समय मे यह सतर्कता आवश्यक होगी कि आत्मा का सम्बन्ध निरन्तर शुद्ध प्रणिधान के साथ जुडा रहे। ऐसी स्थिति में आत्मिक शान्ति का भाव श्रेष्ठ रीति से पल्लवित होता हुआ विकसित होता है।

इसी प्रसग मे अशुद्धता की एक बात का उल्लेख कर दू कि आप समाज मे विधवा बहिनो के साथ में जो हीन भावना व तिरस्कार का व्यवहार रखते हैं, वह दोनों पक्षो मे अशान्ति पैदा करता है। आप यह नही समझते कि जो आत्मिक शक्तियो का विकास विधवा कर लेती है, वह सधवा नही कर पाती है। फिर भी विधवा का सामने आना अपशकुन समझा जाता है। अभाव की स्थिति मे भी जो जीवन को सयमित बनाकर चलती हैं, वैसी विधवाओं का तिरस्कार करना आत्मिक शक्ति एव शुद्ध प्रणिधान का तिरस्कार करना है। इसी प्रकार जिन सामाजिक रीति-रिवाजो मे अशुद्धता पनपाने तथा अशान्ति

बाह्य तप तथा आन्तरिक वृत्तियां

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती........"

भगवान् शान्तिनाथ की विनंति के प्रसंग से जिस शान्ति के निधान को पाना चाहते हैं, उस निधान को अपने अन्तःकरण में सम्यक् विधि से प्रकट कर सकें—इसके लिए कठिन श्रम की अपेक्षा रहती है। किन्तु मनुष्य को वैसे श्रम का सही मूल्यांकन भी पहले कर लेना चाहिये। सही ज्ञान के साथ यदि ऐसा श्रम किया जा रहा है तो उसके माध्यम से परम शान्ति की अमूल्य निधि की प्राप्ति की जा सकती है। यह भीतरी श्रम है। जीवन का श्रम इस भीतरी श्रम के साथ सम्बन्धित होता है। बाहरी श्रम बाहर की उप-लब्धियों के लिये किया जाता है तो उसमें भी हाथ, पैर, मस्तिष्क आदि की शक्तियां लगती हैं। वह उपलब्धि बाहरी रहती है। इन्हीं हाथ, पैर और मस्तिष्क के माध्यम से अन्दर की उपलब्धियों का प्रयास भी किया जा सकता है। बाहरी इन्द्रियां बाहरी दृश्यों के साथ उपस्थित हैं। सभी व्यक्ति इन वाहरी इन्द्रियों को देख पा रहे हैं, परन्तु इन बाहरी इन्द्रियों को बल देने वाली भीतरी इन्द्रियां होती हैं, जिन्हें भाव इन्द्रियों की संज्ञा दी गई है। इन भाव इन्द्रियों के साथ ही साथ द्रव्य मन का प्रसंग है तथा उसी के सहारे रहने वाला भाव मन होता है।

जब मनुष्य आन्तरिक निधि को पाने के लिये यथासम्भव बाहरी प्रयत्न कर लेता है, तब भीतरी प्रयत्न करने के लिये भीतरी इन्द्रियों की वह प्रतिसंलीनता करने लगता है। इस तप के जरिये वह उनमें संशोधन लाता है शान्ति के निधान को प्राप्त करने का मार्ग खुल जाता है। विकारपूर्ण ा मे भाव इन्द्रियों एवं भाव मन से जो शक्ति का प्रवाह फूटता है, वह रिक शक्तियों की कोमलता को नष्ट करने वाला होता है। इस विनाशक तत्त्व का निरोध प्रतिसंलीनता के तप से ही सम्भव हो सकता है।

तो हम नारियां उसे एक बार ही क्यों ? सौ बार मान ने के लिए तैयार हैं। इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अपने पतिदेव की आज्ञा को मान ने के लिए हम नारियों ने समय असमय हजारों बार अपने प्राणों की बाजी तक हसते-हसते लगा दी है। परन्तु अपने पति-देव के अन्यायपूर्ण और धर्मविहीन आज्ञा को मानने के लिए हम नारिया किसी भी प्रकार तैयार नहीं। आज का पुरुष समाज यू दम-दिलासा दे कर और डाट-डपट कर ही हमें अपने पैरों तले रौंद रहा है। परमात्मा उन की आत्मा को शक्ति दे। जिस से कि कम से कम अपने ही जीवन, अपने ही रक्षण और अपने मनोरजन के लिए तो ऐसा कभी न किया करें। हम नारिया पुरुष-जाति की अर्द्धांगिनिया हैं। हमारे कोढ़िया होने पर पुरुष-समाज उस कोढ की खाज और प्राणनाशक सड़न से कभी बच नहीं सकता। आज या कल उसे अपनी समझ और करणी का फल मिलेगा और अवश्य मिलेगा।"

रानी की निराशा

रानी की इन खरी-खोटी बातो को सुन कर राजा आगबबूला हो गया। उस ने रानी को आगे बोलने से बिलकुल रोक दिया और कहा—

"रानीजी! अच्छा! तुम से पूछेंगे! चलो-चलो! अपने अन्त.-पुर के बाहर का काम मेरे ऊपर छोड़ दो।" बेचारी रानी तब तो अपना-सा मुह ले कर रनिवास की ओर चल पड़ी।

भाई-बहिन या पति-पत्नि ?

राजा को तो अपनी मनचीती करनी ही थी। तत्काल ही उस ने ज्योतिषियों को बुला भेजा। विवाह का मुहूर्त निकलवा लिया और निश्चित तिथि पर दोनों भाई-बहिनों का परस्पर विवाह कर दिया।

प्रियकारी लगता है । पदार्थ एक है जिसे पहला व्यक्ति अपने पास रखना चाहता है तथा दूसरा व्यक्ति अपने पास रखना चाहता है । इस खींचातानी की प्रतिक्रिया दोनो के मन मे पैदा होती है । उस समय यदि दूसरा व्यक्ति उस पदार्थ को ग्रहण करने लगता है तो पहले व्यक्ति के मन मे रोष उत्पन्न होता है । ऐसी मनोदशा मे वह उस पर तीव्र प्रहार करने की सोचता है कि जिससे दूसरा उस पदार्थ को ग्रहण न कर सके तथा वह उस पदार्थ को ग्रहण करले । वह उसकी बाहरी और भीतरी शक्तियो को जर्जरित बना देना चाहता है ।

इस प्रक्रिया मे सत्य यह है कि पहला व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति पर प्रहार करने के लिये कोई बाहरी शस्त्र उठाता है तो उससे भी पहले वह भीतरी शस्त्र को उठाता है । वह भीतरी बम का गोला क्रोध का उस पर फैंकता है और सोचता है कि उसकी आन्तरिक शक्तियां उससे जल उठें । क्रोध का वह भीतरी बम का गोला बाहरी इन्द्रियो को उत्तेजित बनाता है कि जिससे वे किसी बाहरी शस्त्र को पकड कर अपने प्रतिद्वन्दी पर प्रहार करे । अब बाहरी प्रहार उस पर सम्भव बने या नही—यह अलग बात है, लेकिन क्रोध रूपी जिस बम का उसने अपने अन्तःकरण मे विस्फोट कर दिया, उसके धुए और उसकी ज्वालाओ से उसकी स्वय की आन्तरिक शक्तियो की कोमलता तो भस्मीभूत होगी ही । आन्तरिक कोमलता के नष्ट होने से बाह्य कोमलता पर भी विपरीत प्रभाव अवश्य पडेगा ।

अन्दर-बाहर का परस्पर प्रभाव :

क्रोध के बारे मे ही जैसे मैं बता रहा हूं कि जब भीतरी शक्तियो में क्रोध का विस्फोट होता है तो उसके विषैले कीटाणु शरीर के रक्त को भी विषैला बना देते हैं । इस प्रभाव से कई रोग भी पैदा हो सकते हैं । किन्तु ऐसे समय मे ही जो प्रतिसलीनता तप का आराधन कर ले तो आन्तरिक शक्तियो की सशक्तता के कारण क्रोध का विस्फोट ही नही हो सकेगा । जैसे रेती मे दब जाने से हथगोला निरर्थक हो जाता है, वैसे ही तप रूप रेती मे क्रोध का शमन हो जाता है । प्रतिसलीनता के तप से प्रभावित होकर ही क्रोध के विस्फोट को रोका जा सकता है । यह विस्फोट रुक जाता है तब [illegible]रिक शक्तियो की कोमलता की भी रक्षा हो जाती है तो इस बाहर की [illegible] की भी रक्षा आप कर सकते हैं । विवेकपूर्वक इस कोमलता की रक्षा [illegible] । विनाशक तत्त्व के विस्फोट को रोक देने से कर्मों की निर्जरा होती है

पुष्पचूला की दीक्षा और केवल-ज्ञान

कालान्तर में राजा और रानी दोनों का स्वर्गवास हो गया। तब पुष्पचूल राजा बना। विचरते-विचरते कुछ साध्वियां उस की राजधानी में आई। उन के उपदेश से पुष्पचूला के मन में ससार के प्रति वैराग्य के भाव उमड आये। उस ने दीक्षित हो जाने के लिए अपने भाई की आज्ञा मागी। उस ने स्वीकृति देते हुए कहा—

"यदि साध्वीजी यहीं सदा विराजती रहें, तो मुझे इस में कोई आपत्ति नहीं।"

साध्वीजी ने इस बात को स्वीकार कर लिया। पुष्पाचूला ने दीक्षा धारण कर ली। उसी क्षण से उस का जैसा स्नेह उस के भाई के प्रति था, वैसा ही प्राणी मात्र के लिए हो गया। वैयावृत्त करने के साथ ही साथ सती पुष्पचूला ज्ञानाभ्यास और ध्यानाभ्यास भी खूब ही करती रही। तप भी उस का कुछ कम नहीं था। यूं एक दिन उस के चारों घनघाती कर्मों का नाश हो गया। उसी समय उसे केवल-ज्ञान हो आया। फिर भी पहले ही के समान वैयावृत्त वह करती रही और अपनी गुरुणी की सेवा-शुश्रुषा में कोई कमी उस ने होने दी।

देवि ! तुम धन्य हो

एक दिन सती की चेष्टाओं से उस की गुरुणीजी को ज्ञात हो गया कि उसे ज्ञान हो आया है। उन्हों ने उससे पूछा

"पुष्पाचूला ! क्या तुम्हें कोई ज्ञान हो गया है ?"

"आपकी कृपा।" उत्तर में सती ने कहा।

"प्रतिपाति अथवा अप्रतिपाति× ?"

×जो ज्ञान नाश हो जावे वह 'प्रतिपाति' और जिस के होने के बाद मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जावे वह 'अप्रतिपाति' ज्ञान है।

प्रणिधान की शुद्धता एवं सुव्यवस्था :

जब आन्तरिक शक्तियो की सुरक्षा सुनिश्चित बन जाती है तो उनकी शुद्धता की स्थिति भी अनुकूल बन जाती है। इन आन्तरिक शक्तियो की सुरक्षा एव शुद्धता ही प्रणिधान की शुद्धता एव सुव्यवस्था का कारण होती है। जब प्रणिधान को शुद्ध एव सुव्यवस्थित आप बना लें तो शुद्ध भावना के साथ अपनी आन्तरिक वृत्तियो को आन्तरिक श्रम मे सम्यक् प्रकार से नियोजित कर सकेंगे। जरा सी अपनी मन स्थिति को चिन्तन में रमावें तो यह विषय आपको कठिन प्रतीत नही होगा और आप मेरे अभिप्राय को न सिर्फ समझने मे बल्कि उसे अपने जीवन मे उतारने मे भी समर्थ बन सकेंगे। मैं आत्मीय भावना के साथ आपको परामर्श देना चाहता हू कि आप प्रतिसलीनता की तप-विधि को हृदयगम करें और अपनी कोमल वृत्तियो को सुरक्षित बनाये रखें।

आप बाह्य तप जितना कर सकें, अवश्य करें किन्तु आन्तरिक वृत्तियो को प्रभावशील बनाने वाले तप के अन्य प्रकारो पर भी पूरा आचरण करें। आप दुष्वृत्तियो के विषैले बम पहले तो अपने पास रखें ही नही और कही ऐसे बम हों भी तो उनके विस्फोट से अपनी अन्तर्शक्तियो को बचाये रखें। कदाचित् कुछ ऐसा प्रसग भी आपके सामने बन जावे कि जिससे आपका क्रोध भडक सकता हो, फिर भी प्रतिसंलीनता के तपाराधन से प्राप्त आत्म-नियन्त्रण के आधार पर आप शान्ति धारण कर लीजिये — फिर उसका सुपरिणाम देखिये। दूसरे ने आपको उत्तेजना दिलाई और परिणामस्वरूप उसकी भीतरी शक्तियां उत्तजित बनी तथा उसने उस उत्तेजना से भडके क्रोध के हथगोले को उठा भी लिया व आप पर फेंक भी दिया। लेकिन आप अपनी आत्म-नियन्त्रण की रेती पर उस गोले को निरर्थक बना देते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि जो कुछ क्षति हुई, वह प्रहार करने वाले की ही हुई। आपका तो कुछ भी नही बिगडगा। इसके विपरीत ऐसे प्रहारो के समय शान्ति एव सुवैचारिकता रखने के कारण आपका प्रणिधान निरन्तर शुद्ध एव सुव्यवस्थित बनता रहेगा।

दुष्वृत्तियो एवं दुष्प्रवृतियो के प्रहारों को सफलतापूर्वक झेलने वाली ढाल यह प्रतिसलीनता तप की ही ढाल होती है। यदि आप सामने वाले के क्रोध के समय प्रतिसलीनता तप का स्मरण करलें और आत्म-नियन्त्रण की स्थिति को मजबूत बना लें तो आत्म प्रदेशो मे एक नई हलचल मच जायगी। क्या कि क्रोध के जिन स्कन्धो का जमाव जिन आत्मिक प्रदेशो के साथ तो सामने वाले क्रोधी व्यक्ति का निमित्त मिलने से वे क्रोध के स्कन्ध

आज लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हमारी इस भारत वसुन्धरा में 'वसन्तपुर' नामक एक नगर था। वह व्यापार का बडा भारी केन्द्र था। इसी कारण लक्ष्मी वहां गली-गली में निवास करती थी। सब प्रकार की मनोहरता भी उस के कोने-कोने में खूब ही छिटक रही थी।

संस्कार की नींव : बचपन

उस नगर में अनेकों लोग जैन श्रावक निवास करते थे। उन में से एक का नाम 'जिनदास' था। 'जिनमति' उस की भार्या और 'सुभद्रा' उस की पुत्री थी। सुभद्रा के स्वभाव पर उस के बालकपन से ही धार्मिक सस्कारो की पक्की छाप लग चुकी थी। जब उस की माता सामायिक करने बैठती, सुभद्रा भी साथ में वैसा ही कर ने लग जाती। वह यदा-कदा अपनी माता से भोले-भाले और तुतलाते हुए शब्दों में कहती—

"मा! मुझे भी एक छोती सी मुंहपत्ती बनादो। मैं भी उसे अपने मुंह पर बांधूगी।"

कभी वह नौकरवाली (माला) को हाथ में लेकर फिराने लग जाती। माता-पिता अपनी इस लाडली पुत्री की इन बातों को देख-देख कर मन ही मन बडे प्रसन्न होते।

सुभद्रा का धर्मानुराग

तपाराधन को अपना कर ऐसी आत्म-शान्ति का अनुभव तो लीजिये । मेरे कई भाई-बहिन कभी-कभी कहते हैं कि और सब कुछ कर लेंगे किन्तु इस क्रोध को नही जीत सकेंगे, पर मैं कहना चाहता हूं कि इस दिशा मे भी आप अगर प्रयत्न करेंगे और विवेक व भावना के साथ प्रतिसलीनता के तप की सहायता से आत्म नियन्त्रण की उपलब्धि करेंगे तो आप क्रोध तो क्या, जटिल से जटिल दुष्वृत्तियो पर भी अपना काबू कायम कर लेंगे ।

आत्म-नियन्त्रण और आत्म-शान्ति :

जहा आत्म-नियन्त्रण है, वहा अवश्य ही आत्म-शान्ति भी है । इन दोनो का निवास साथ-साथ होता है । इन्द्रियो और मन पर निग्रह स्थापित करके जब आप अपनी आत्म-नियन्त्रण की स्थिति को पुष्ट बना लेंगे तो क्रोध एव अन्य समस्त विकारो का कुप्रभाव आपके मानस पर से हटता हुआ चला जायगा और आपके भीतर आत्म-शान्ति की गहराई बढती जायगी । गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए भी जो भाई-बहिन ऐसे आत्म-नियन्त्रण की क्षमता का परिचय देते हैं, वे ससार के सामने अपूर्व आदर्श उपस्थित करते है और उत्तेजित व्यक्तियो को अपने व्यक्तित्व से ही शान्त बना देते हैं ।

मैंने वर्तमान समय मे ही एक "मीठा माजी" का दृष्टान्त सुना है । एक नगर मे एक वृद्धा ने आत्म-नियन्त्रण मे इतनी कुशलता प्राप्त की कि कितनी ही उत्तेजना के बावजूद वह कभी भी अशान्त नही बनती बल्कि धीरे-धीरे उसकी इस शान्ति का चारो ओर ऐसा सुप्रभाव पडने लगा कि नगर-निवासी उसे मधुरता का प्रतीक समझने लगे और उसे "मीठा माजी" के नाम से पुकारने लगे । उस वृद्धा की यह प्रशसा एक सिरफिरे युवक को सहन नही हुई । वह आत्म-नियन्त्रण को कायरता मानता था । उसका कहना था कि ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहिये । उसने "मीठा माजी" को उत्तेजित बनाने का निश्चय किया । एक रोज सध्या होते ही वह उस वृद्धा के कच्चे मकान पर चढ गया, जहा ऊपर मिट्टी के कवेलु छाए हुए थे । कुछ कवेलुओ को तो वह जोर-जोर से चल कर फोडने लगा और बाकी कवेलुओ को वह उठा-उठा कर फैंकने लगा । वृद्धा ने पहले तो समझा कि कोई बन्दर है लेकिन वैसा करते हुए जब उसने उस युवक को देखा तब भी वह स्वय कतई उत्तेजित नही हुई । वह निरपराधिनी थी और उस उत्पाती पर उसका क्रोध करना स्वाभाविक था, परन्तु उसने आत्म-नियन्त्रण को मजबूत बनाये रखा और समझा कि यह उत्पाती युवक तो मुझे तप की प्रेरणा देने वाला है । उसने मधुर

हैं। इस के पिता खोज में हैं कि कोई कट्टर धर्म-प्रेमी स्वधर्मी बन्धु इस के रूप, गुण, स्वभाव और आयु के अनुसार मिल जावे तो इस का विवाह सम्बन्ध वे उस के साथ करदें। वर के योग्य बालक तो अनेकों ही आये और गये, परन्तु किसी में कोई एक कमी रहती है और दूसरे में कोई दूसरी।"

बुद्धचन्द्र ने उस दूकानदार के कथन का लाभ उठा लेना चाहा। उस ने मन-ही-मन कहा-"अच्छा है, मैं ही क्यों न सुभद्रा को पाने का प्रयत्न करूँ? रूप-उम्र और गुणादि में तो मैं उस के अनुरूप हूँ ही। यदि कोई कमी है तो केवल यही कि मैं जैन-धर्मी नहीं हू। इसलिए मैं जैन-धर्म को धारण कर लूँ और जिनदास के प्रति अधिक-से-अधिक अनुराग समय-समय पर प्रकट करता रहूँ।"

बुद्धचंद्र की धार्मिक-जालसाजी

इस विचार से उस ने चम्पानगरी को छोड़ वहीं अपना निवास कर लिया। अब तो नियम-पूर्वक वह प्रति-दिन जैन-मुनियों के प्रवचन सुन ने के लिए आने-जाने लगा। केवल यही नहीं, धर्माचरण के लिए एक नव-सिक्खड़ जितने भी प्रकार के नखरे कर सकता है, वह भी उन सभी को एक-एक कर के कर ने लगा। कुछ ही दिनों के पश्चात् वह मुँह पर मुँहपति बाधने और सामायिक कर ने लगा। व्याख्यान के समय वह लोगों की दृष्टि में बड़ा ही एकाग्र चित्त होकर बैठा नजर आता। वह मुनिराजों की वाणी को बड़ी श्रद्धा से सुनता और बीच-बीच में बनावटी हँसी से हँस कर उन की उस वाणी के प्रति वह अपने सिर को हिलाते हुए भारी अनुराग भी प्रकट करता जाता।

बुद्धचन्द्र व्यापारी था। यहां भी उस ने उसी व्यापारिक नीति से दाव-पेच खेलना प्रारम्भ किया। वह अपनी इस नीति से अधिक-

ही भीतर मौका ताकते रहते हैं एवं यदि आप पूरी सतर्कता नहीं बरतें तो शुद्ध वृत्तियो को धर दबोचते हैं तथा जीवन के विकास को नष्ट कर देते हैं।

सत्य मानें कि परमाणु बम जिस रूप मे शुद्ध मानवता का विनाश नहीं करता, उससे अधिक क्रोधादि विकार मानवता की जडों पर कुठाराघात करते हैं। इन दुष्वृत्तियो के घेरे मे आ गये तो ये भस्मीभूत किये बिना नहीं छोडती हैं। ये घेरे संसारी आत्माओ पर छाये हुए हैं और उन्हे रात-दिन उत्तेजित बनाते हैं व पतित बनाते रहते हैं। इन घेरों के विनाशक तत्त्वों को समझने तथा इनकी प्रतिरोधक आत्म-नियन्त्रण की क्षमता को बढाने की आवश्यकता है, अगर आप इन घेरो से निकल कर अपनी आत्मा को परम शान्ति की ओर ले जाना चाहते हैं। ज्ञानियों का कथन है कि बाहर जो भी विस्फोट दिखाई देते हैं, वे भीतरी विस्फोट के परिणाम स्वरूप ही बाहर आते हैं। यह परमाणु बम भी आन्तरिक क्रोध एव स्वार्थ के विस्फोट का बाहरी रूप है। क्रोध मनुष्य के अन्त.करण को जलाता है तो उसका बाहरी रूप ससार के बाह्य को जलाता है। क्रोधी का शरीर जलेगा, रुग्ण रहेगा तो वह अपने आस-पास के वातावरण को भी दाहक बनावेगा। क्रोधी अपने विस्फोटक स्व-भाव से न स्वयं शान्ति पा सकेगा और न दूसरों को शान्ति दे सकेगा।

जहां अन्तर्ज्वाला सदा सुलगती रहती है, वहां अशान्ति मची रहती है। आज देखा जाता है कि जिन घरो में सुख-सामग्री की कमी नही है—कोई आर्थिक समस्या नहीं है, वहा भी क्रोध, ईर्ष्या आदि ऐसी दुष्प्रवृत्तियां पनप जाती हैं कि सारा का सारा परिवार अन्दर ही अन्दर घुलता रहता है तथा अशान्ति के कारण उसका जीवन नष्ट-सा हो जाता है।

तो प्रतिसंलीनता का तप अपनाइये !

इन परिस्थितियों में यदि आप प्रतिसलीनता के तप की आराधना करें और अपनी सभी इन्द्रियों तथा अपने मन पर निग्रह रखने का अभ्यास बनावें तो अशान्ति का वातावरण समाप्त हो सकता है। आग मे आग फैंकने से ज्वाला की तेजी बढती ही है—यह पक्की बात है, किन्तु अगर आग पर पानी फैंक दिया जाय तो वह आग को बुझा देगा। इस पानी की शीतलता और सहनशीलता को यदि अपने जीवन मे भी आप साकार रूप देना चाहते हैं तो प्रतिसंलीनता के तप को अपनाइये।

कई लोग सोचते हैं और इस कमजोरी का अनुभव करते हैं कि हम

पर रीझ गया। जब उस ने अपनी पुत्री के अनुरूप उम्र भी उस की देखी, तब तो वह और भी आनन्दित हो उठा।

जिनदास ने मन ही मन कहा—"वर्षों से जिस प्रकार के वर की खोज में पैसे को पानी की भांति मैंने बहाया है। आज घर बैठे वह अनायास ही मुझे मिल रहा है। मैं इस शुभ अवसर का सदुपयोग क्यों न कर लूँ ? पुत्री की उम्र भी अब विवाह के योग्य हो गई है। यदि इस अवसर को हाथ से सटका दिया, तो न जाने अपनी इस भयकर भूल का प्रायश्चित मुझे किस रूप में करना होगा ? अच्छा हो शीघ्र से शीघ्र किसी बहाने इसे अपने घर पर बुला कर सारे कुटुम्बियों की निगाहों में इसे निकलवा दूं।" यही सब सोच-विचार कर जिनदास ने बुद्धचन्द्र को किसी नियत दिन अपने यहां भोजन करने को आमन्त्रित कर दिया।

नखरेदार साधना की सफलता

बुद्धचन्द्र तो इस प्रतीक्षा में था ही। उस की सारी साधनाएं ही एक मात्र इसी के लिये थीं। उस ने आज अपनी कई महीनों की कठिन किन्तु नखरेदार साधना को सफल हुए देखा। उस का हृदय बाग-बाग हो गया। उस ने अपने सिर को हिलाते हुए 'अच्छा' जिनदास की बात के उत्तर में कहा।

वह दिन आया। बुद्धचन्द्र नियत समय पर जिनदास के घर भोजनार्थ पहुचा। अभी थाली परोसी जाने वाली ही थी कि उस के कुछ ही पहले वह बोला—

"अजी जरा सुनिये तो। आज घी, दूध और दही इन तीन विगयों के अतिरिक्त अधिक विगयों को खाने का परित्याग मैंने किया है। इसलिये थाली परोसते समय इन बातों को ध्यान में रखिये।'

बुद्धचन्द्र के इन वचनों ने जिनदास के हृदय में उस के लिये

उणोदरी व भिक्षाचरी : जीने के लिये खाना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती........"

भगवान् शान्तिनाथ की प्रार्थना के प्रसग से शान्ति की खोज एवं शुद्ध प्रणिधान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न चल रहा है। शुद्ध प्रणिधान जीवनी शक्ति का महान् स्रोत होता है। इस स्रोत को महान् ही नही, एकमात्र भी कह सकते हैं। इस शक्ति के प्रवाह को आत्मा के असख्य प्रदेशों मे रहे हुए कर्म मैल को हटाने के लिये जब लगाया जाता है और जब वह शक्ति का प्रवाह उन असख्य आत्मिक प्रदेशो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से जुड कर जागृत हो जाता है तो फिर आत्मा के परम शुद्ध अवस्थान के उस अद्वितीय रूप का ससार के समक्ष उपस्थित होना कठिन नही रहता। संसार मे जितने पदार्थ दृष्टिगत हो रहे हैं अथवा जिन पदार्थों को देख सकने मे मानव समर्थ होता है—वे चैतन्य-शून्य हों अथवा चैतन्ययुक्त, किन्तु शुद्ध प्रणिधान के साथ शक्ति के प्रवाह को कर्म मैल की समाप्ति मे नियोजित करने वाली आत्मा का स्वरूप सिवाय सिद्ध स्वरूप के इन सभी पदार्थों के स्वरूप से उत्कृष्टतर बन जाता है। शुद्ध प्रणिधान से प्रकाशित उस आत्मा के तुल्य कोई भी स्वरूप नही टिकता—उसके लिये केवल सिद्ध स्वरूप ही लक्ष्य बना रहता है। आत्मा का ऐसा दिव्य स्वरूप जिस विधि से निखरता है, उस विधि को धीरे-धीरे ही सही, जीवन मे उतारने का अभ्यास आरम्भ कर देना चाहिये।

ज्ञान की दृष्टि से किसी सिद्धान्त का कथन कर देना एक बात है, किन्तु उस कथन की भावना को सम्पूर्ण शक्ति के साथ जीवन के आचरण मे उतारने का प्रयत्न करना दूसरी ही बात होती है। जो कहे, वैसा करें तभी कथन प्राणवान् बन सकता है। आचरण के साथ ही कथन मे जीवन आता

पहुचने पर एक-दो ही दिनों में उस ने भली-भाति जान लिया कि उस के सारे पारिवारिक नर-नारी बौद्ध धर्मावलम्बी है। उस के पति बुद्धचन्द्र ने उसे धोखा दिया है। सुभद्रा ने निश्चय किया—

"खैर ! जो हुआ सो हुआ। लडकी आप कर्मी होती है, बाप कर्मी नहीं। पिताजी ने खूब छान-बीन की थी। परन्तु मेरे भाग्य का सयोग भी तो कोई वस्तु थी और है। फिर भी मैं अपना धर्म तो कभी छोडने की नहीं। क्योंकि धर्म तो कोई ढकोसला होता नहीं। वह कोई खरीद और बिक्री की वस्तु भी तो नहीं। वह तो अन्तरात्मा की वस्तु है। मेरा धर्म मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। मैं वही करूगी, जिस में मेरा धर्म बना रहे। ऐसा कर ने में फिर चाहे प्राण भी चले जावें तो कोई परवाह नहीं।"

गृह संघर्ष—

अपने इस दृढ निश्चय के अनुसार सुभद्रा नित्य-प्रति पौषधशाला में व्याख्यान सुन ने के लिये जाने-आने लगी। मुख पर मुखपत्ती बांध कर सामायिक भी वह नित्य नियम पूर्वक कर ने लगी। उस के इन कामों को देख-देख कर उस के सासू-ससुर उस पर झल्लाते और अनेकों प्रकार की भली-बुरी बातें सुनाते। पर वह उन बातों पर जरा भी कान न देती। वह समय-असमय उन्हें कहती—

"धर्म के मामले में मैं आप की राई-रत्ती भर भी सुन ने वाली नहीं। हा ! आप की व्यावहारिक सभी बातों को, छोटी से छोटी आज्ञाओं को मैं अपने सिर-कन्धों मानूंगी। उस मामले में आपके थूक को लांघना तक मैं घोर पाप समझूगी।" इस प्रकार यह सघर्ष प्रति-दिन बढता ही गया।

सासू द्वारा आरोप

प्रणिधान से कर्म रज दूर होती है। कर्म रज के हटने पर आत्मा का मौलिक रूप प्रकट हो जाता है जिससे स्थायी शान्ति की प्राप्ति होती है।

तप के ताप से आत्मा का निखार :

आग मे तपने के बाद ही सोने की असलियत जाहिर होती है क्योंकि मैल को छांट कर सोने को असल बनाने वाली भी आग ही होती है। उसी प्रकार तप का ताप आत्मा के कर्म-मैल को जलाता है तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भी दमकाता है। तप किसको कहे ? "तप्यते इति तप." अर्थात् जिससे तपा जाय, वह तप है। तपने वाली आत्मा होती है याने कि तप का अनुभव करने वाली आत्मा है। शरीर तप का अनुभव नही करता है। आत्मा की ज्ञान शक्ति से जब वह रहित हो जाय तो उस शरीर को कितना ही तपावें या जलावें, तब भी इस शरीर को तप का कोई अनुभव होने वाला नही है। जब द्रव्य तप का भी शरीर को अनुभव नही होता, तब भाव तप से तो आत्मा ही तपती है। उससे आत्मा का शुद्ध प्रणिधान विकसित होता है।

वास्तविक दृष्टि से ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले तप को आत्मा अपने स्वरूप-निखार का सहायक और साधन मानती है। तप से वह तपती हो— ऐसा अनुभव नही करती, क्योंकि ताप—यह तो कष्टदायक स्थिति होती है, जबकि ज्ञान दृष्टि से आराधा गया तप आत्मानन्द प्रदान करता है। यदि तप को आत्मा कष्टदायक रूप मे समझे तो उस तप का सही आराधन नही माना जायगा। जो सही ज्ञानपूर्वक तप नहीं कर रहा है, वह अपनी स्थिति से जो कुछ भी करता है, उस दृष्टि से उसके पुण्यवानी का बन्ध हो सकता है, किन्तु उसके जीवन मे आत्मा की उज्ज्वलता का प्रसग नही आता है। आत्मा मे जब यह जिज्ञासा जागृत होती है कि शुद्ध प्रणिधान के लाने मे जो बाधक तत्त्व हैं, उनको बीच में से दूर हटाना है तथा कर्म रज को मिटा कर आत्मा की शक्तियो को उज्ज्वल बनाना है तो वह तप के साधन को अगीकार करती है और उसका आराधन ज्ञानपूर्वक करती है।

भावना और ज्ञान के साथ तपाराधन कष्ट का नही, आनन्द का अनुभव देता है। समझें कि एक व्यक्ति के पैर मे काटा चुभ गया। काटा जब तक अन्दर रहता है, तब तक वह कष्ट पाता है और उसे स्वय निकालने या दूसरों से निकलवाने का प्रयत्न करता है। उस समय उस गडे हुए कांटे को निकालने के लिये सूई या दूसरी तीखी चीज का जो प्रयोग किया जाता है, वह भी एक तरह से काटा ही होता है। पहले काटे मे दर्द का जो अनुभव

तुम्हारे सामने आई या नहीं ? अरे ! अरे !! यह तो इतनी अधिक कुल-कलंकिनी है कि मुनियों तक को इस ने नहीं छोड़ा। बताओ ! मेरी बात सच निकली या झूठ ? तुम ने उस दिन तो मुझे टला दिया था। आज तो तुम स्वयं आंखों से देख रहे हो। आंखों-देखी बात के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी क्या है ?"

बुद्धचन्द्र इस दृश्य को देख कर चौंक पडा। उस का सिर नीचा हो गया। पत्नी के प्रति जितने भी ऊँचे विचार उस के दिल में आज तक एकत्रित हो पाये थे। सब के सब पलक मारते हवा हो कर उड गये। उसी समय घर के अन्य सभी लोगों ने भी सुभद्रा को 'दुराचारिणी' करार दे दिया।

सुभद्रा के तन-बदन में इस बात को सुनते ही आग-आग लग गई। कटीली झाडियां बिना बोये ही अपने-आप ऊग आती हैं। परन्तु आम के पौधे हर प्रकार की सावधानी लेते रहने पर भी कठिनाई से पनपते हैं। यही बात सुभद्रा के लिए भी हुई। पलक मारते न मारते सारी नगरी में वह बात बिजली के समान फैल गई। सुभद्रा की काफी बदनामी हो गई। किन्तु धूआ अग्नि को तभी तक ढंके रहता है, जब तक कि वह अपना प्रज्वलित रूप नहीं दिखा पाती।

कलंक-निवारण के लिए तपो-साधना

महान् सदाचारिणी आदर्श सती सुभद्रा ! अपने इस मिथ्यापमान को सहन भी कैसे कर सकती थी ? उस ने अपने इस कलंक को दूर कर ने के लिए तेले की तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी। सोने का मैल अग्नि के ताप ही से दूर हो सकता है।

चम्पा के द्वार बंद हुए

शुद्धि के लिये जिस तप को किया जाता है उसके लिये तदनुरूप मन, वचन, एव काया की योग्यता होनी चाहिये और वह उस योग्यता के अनुसार तप को स्वीकार करके चल सकता है । अनशन तप करने की क्षमता नही हो तो वह खाते-खाते भी तप कर सकता है—इसमे कोई सन्देह नही है ।

खाते-खाते भी तप कैसे ?

आप सोचेंगे कि खाते-खाते भी तप कैसे हो सकता है ? मानिये कि ऐसा तप होता है, इसीलिये मैं कथन कर रहा हू । यह कथन मेरे मुह की बात नही है, परन्तु वीतराग देव की है । भगवान् महावीर ने तप एक ही प्रकार का नही, बल्कि बारह प्रकार का बताया है । इनमे से पहले प्रकार—अनशन पर पहले विचार किया गया है । इसी का दूसरा प्रकार बताया गया है—उणोदरी । उणोदरी वह तप है जिसका आराधन खाते-खाते किया जा सकता है । उणोदरी का अर्थ है कि जिस पुरुष की जितनी अपनी खुराक है, वह अपनी उस खुराक से कम खावे । अनशन मे भोजन का सर्वथा त्याग होता है किन्तु उणोदरी मे उसका आशिक त्याग ही होता है । कल्पना करें कि एक व्यक्ति की खुराक चार फुलको की है और अगर वह उणोदरी तप करना चाहता है तो वह दो फुलको को ग्रहण करे तथा दो का त्याग करे । इस तप से भी आत्मा का शुद्ध प्रणिधान बनता है । अपनी स्वाभाविक खुराक में वह जितनी कमी करता है, उतना ही उसका उणोदरी तप बनता है । इस तप के पीछे लगे हुए विशेषणों को ध्यान मे लेने की जरूरत है ।

उणोदरी तप की विशेषता इसमे है कि खाकर भी खाने की लोलुपता पर कैसे नियन्त्रण रखा जाय । उपवास मे नही खाना है तो सोच लिया जाता है कि नही ही खाना है किन्तु खाना खाने बैठकर भूख को रोकना और कम खाना अधिक कठिन भी हो सकता है । भोजन के प्रति लोलुपता छोडने की वजह से स्वाद पर भी विजय प्राप्त होती है । स्वाद के वश में होकर ही खाने मे लोभ पैदा होता है और व्यक्ति अधिक खा लिया करता है, किन्तु कम खाने के तप मे इस लोभ को छोडना होता है । इस कारण धीरे-धीरे स्वाद की लोलुपता भी समाप्त हो जाती है । बारह प्रकार के तपो मे इस प्रकार यह दूसरे प्रकार का तप उणोदरी है जिसकी ओर लोगो का सामान्यतया ध्यान नहीं रहता है, इसी कारण शायद पहले प्रकार का तप—अनशन करते हुए गरिष्ठ पारणे की परिपाटी चल पडी है, वरना अनशन ही की तरह उणोदरी तप के आराधन का भी विवेक होना चाहिये ।

"महाराज ! शहर के सारे लोहार और सुतार अपना-अपना बल लगा कर हार गये, परन्तु किवाड़ टस-से-मस भी न हुए। अब बताइये ! क्या किया जाय ?"

"अच्छा तो हाथियों को छुड़वा कर किवाडों को अभी-अभी तुडवा दिया जाय।" राजा ने द्वारपालों से कहा।

तुरन्त वैसा ही किया गया। परन्तु इस बार भी सारे प्रयत्न बेकार सिद्ध हुए। किवाड एक इच भर भी खिसक न सके।

आकाशवाणी और राजघोषणा

इतने ही में नगरी में एक घोर भूकम्प-सा हुआ और साथ ही एक आकाश-वाणी ने बताया—

"यदि कोई शीलव्रती (सदाचारिणी) स्त्री कच्चे सूत के धागे से चलनी को बाध कर उसे कूँऐ में डाले और उस के द्वारा पानी उस में से निकाल कर किवाडों पर छिड़के तो किवाड़ उसी समय खुल जावेंगे।"

तदनुसार राजा ने शहर भर में राज-घोषणा करवाई कि—

"जो भी कोई सती-साध्वी महिला अग्रसर होकर इस महान् भार को अपने सिर-कन्धा लेते हुए अपने आदर्श सत्य-शील-व्रत का परिचय देना चाहे। वह खुशी खुशी इस भार को अपने ऊपर ले सकती है । उस के इस परीक्षा में सफल हो जाने पर उस का राज्य की ओर से बडा भारी सम्मान किया जायगा।"

जनता में अचंभा और काना-फूंसी

इस घोषणा के कुछ ही समय के वाद निर्धारित किये हुए कूंए के आस-पास नगर के आबाल-वृद्ध सभी नर नारी आ-आ कर जमा होने लगे। वहा उस समय एक बड़ा भारी मेला-सा

चलना चाहिये । सम्मान सत्कार को वह अपना नहीं समझे—वीतराग वाणी का समझे । अपने को उससे अप्रभावित रखते हुए ही साधु भिक्षाचरी तप का शुद्ध आराधन कर सकता है । सम्मान के साथ साधु को तिरस्कार भी मिलता है । कई कह देते हैं कि अरे यह कमाना नहीं जानता, इसलिये साधु बनकर भीख मांगता है । तब भी साधु के भावों मे उथल-पुथल नही होनी चाहिये। तिरस्कार पर भी वह रोष नहीं करे, समभाव से ऐसे कथन को सुने और कहने वाले को समझावे कि वह अपनी इच्छा हो तो भिक्षा दे व ग्रहण करने लायक भिक्षा होगी तो ही ली जायगी लेकिन वह अपने जीवन में ऊंचे नीचे परिणाम नही लावे । अपनी विधि से भिक्षा ग्रहण करनी है, उसमें मान-अपमान का तनिक भी ध्यान नहीं रखना है—यही भिक्षाचरी तप की विशिष्टता है ।

भिक्षाचरी तप की विशिष्टता :

सम्मान से नहीं फूलना और अपमान से विचलित नही होना—यह भिक्षाचरी तप की प्रमुख विशिष्टता है, क्योंकि इससे समभाव की साधना का अवसर मिलता है । यदि किसी ने भिक्षा लेते समय ताना कसा और साधु को रोष आ गया और वह भिक्षा नहीं ले तो वह उस तप से नीचे गिरकर कर्म-बन्धन कर लेता है । अपमान को जीतने मे भी मन की अतुल शक्ति की आवश्यकता होती है । यह समभाव की स्थिति जो भिक्षाचरी के तप मे आवश्यक होती है, वह कई बार उपवास, बेला, तेला आदि अनशन तप मे नही देखी जाती है । आप कभी विचार कीजिये कि अनशन तप किया और उसमें मन, वचन, काया का कष्ट भी सहन किया, किन्तु जब उसके लिये जरा-सा भी सम्मान मिल गया तो मन फूल जाता है । यह समभाव की स्थिति नही है तथा इस अनशन से भी भिक्षाचरी के अपमान को जीतना अधिक कठोर होता है । यह तप दुनिया की दृष्टि मे दीखता नही है, किन्तु भिक्षाचरी का जो तप है, वह आत्मा का संशोधन करने की दिशा मे अधिक फलप्रद बनता है ।

कोई भी तप हो उसकी शुद्धि तभी यथोचित रूप से सम्पादित की जा सकती है जब उसका मूल्यांकन सही ढंग से किया जाय तथा उसके आराधन में रूढ़ता न हो । सम्पूर्ण ज्ञान एवं चैतन्यमय दृष्टि से तप का आराधन किया जाना चाहिये । यही कारण है कि इस भिक्षाचरी को भी भगवान् ने तप कहा है और इस तप को उन्होंने साधु-जीवन के लिये ही अनिवार्य नही बताया, बल्कि यदि गृहस्थ भी चाहे तो भिक्षाचरी का तप ग्रहण कर सकता है तथा

"अरी कुलटा! चुप रह। अब घर के छिपे हुए पाप को चौराहे पर लटका कर क्यों अपने साथ में हम सब का काला मुंह तू करवाती है? घर ही में चुपचाप पड़ी रह। हमारे वंश का जितना भी उजाला तूने अभी तक किया, उतना ही बस है। हाय! 'ले डूबता है एक पापी नाव को मझधार में।" क्या तू अब हमारे वंश का समूल ही नाश करना चाहती है?"

"नहीं सासूजी! कभी नहीं। परन्तु मेरे सिर पर जो कलंक का टीका आपने लगा दिया है, उसे धोने की चेष्टा मैं अवश्यमेव करूंगी। मैं नगर के दरवाजों को खोल कर जनता के भ्रम को मिटाऊगी।"

सासू लम्बे-लम्बे हाथ करती, त्यौरी बदलते हुए बोली—

"ओ री कुल-कलकिनी! अब क्यों अधिक कुल को लजाती है? मान जा! घर से बाहर न निकल! जो भी कुछ बची-बचाई इज्जत है, सब धूल में मिल जावेगी। वह जीवन मरने से भी अधिक बदतर होगा।"

"सासूजी! इस अचानक हाथ लगे सुवर्ण अवसर से भला मैं क्यों न लाभ उठा लूं? आप की इच्छा हो, वैसा आप कहते रहिये। दरवाजा खोल ने के लिये तो मैं जाऊगी और अवश्य जाऊगी।"

सुभद्रा और जनता

यूं कहती-सुनती सुभद्रा तो घर से बाहर निकल ही पड़ी और जहां कुऐ के निकट गाव के आबाल-वृद्ध नर-नारी इकट्ठे हो रहे थे, वहा आ ही पहुँची। लोगों ने जब इसे देखा, तरह-तरह की बातें की। काना-फूंसी कर-कर के कहने-सुनने लगे—

"अरे! यह तो वही सुभद्रा है, जिस की सारे शहर में बदनामी

ऐसे मिलते हैं जो घरेलू समस्याओं से मुक्त होते हैं और उनको आर्थिक समस्याओ की चिन्ता नही होती है। जो कर सकें, वे अनशन तपस्या भी खूब करें, किन्तु सामान्यतया जो यह समझ कर कि वे अनशन तपस्या नही कर सकते हैं, इस कारण वे कोई तप ही नही कर सकते हैं—ऐसी धारणा नही रहनी चाहियें। बारह प्रकार के तप होते हैं और उनमे से किसी भी प्रकार के तप का अपनी सुविधा से गृहस्थ आराधन कर सकता है। यदि एक गृहस्थ भावनापूर्वक खाने के लिये जीने की लालसा का भी त्याग करता है तो वह एक बहुत बडा तप होता है। जीने के लिये खाना भी एक तप है और यह ऐसा महत्वपूर्ण तप है कि जिससे मन एव मन की चचल लोलुप वृत्तियो पर नियन्त्रण का अभ्यास बनता है। भूखे भी नहीं रहना और सम्भल कर खाना—इसमें अधिक नियन्त्रित चित्त की आवश्यकता होती है। भावनात्मक दृष्टि से सोचेंगे तो खाने के मामले मे ही सही—यदि आप आत्म-नियन्त्रण की वृत्ति मे कुशलता प्राप्त कर लेते हैं तो यही एक वृत्ति जीवन को विकास की उच्चतर श्रेणियो मे ले जाने वाली बन जाती है।

शास्त्रो मे खाते-पीते भी पौषध व्रत करने का कथन आया है। भगवती सूत्र मे उल्लेख है कि महावीर के बडे श्रावकों में से शखजी व पोखलीजी भी थे। दोनों ने एक बार परामर्श किया कि कल पौषध व्रत रखना है और यह व्रत खाते-पीते रखना है—खाते-पीते भी आत्मा का पोषण करना है। सूत्र पाठ आया है कि उन्होने अशन, पान, खादिम, स्वादिम की सामग्री तैयार करवा कर और फिर खाकर याने खाते-पीते पौषध व्रत ग्रहण करने का विचार किया। यह इन श्रावको ने तपाराधन किया। पौषध का अर्थ होता है आत्मा का पोषण करना। इस दृष्टि से चोबीसो घण्टे अनशन व्रत के साथ आत्मा का पोषण कर सकें तो वह बहुत अच्छी बात है किन्तु जिसमे वैसी शक्ति नहीं है और वह यही समझले कि अनशन तप के बिना आत्मा का पोषण सम्भव नहीं है तो यह समझना भूल होगी। जिसमे अनशन तप करने की शक्ति नही है तो वह अन्न ग्रहण करके भी पौषध व्रत ले सकता है और इसी को आजकल दयाव्रत कहा जाता है। लेकिन दयाव्रत मे अन्न ग्रहण करने की परिपाटी आज की तरह नही होनी चाहिये। अन्न ग्रहण करना है केवल शरीर को चलाने के लिये—न कि जीभ का पोषण करने के लिये। जीभ का पोषण करने से आत्मा का पोषण नही होगा। अन्न ग्रहण जीने के लिये खाने रूप मे होना चाहिये। खा रहे हैं शरीर को धर्म क्रियाओ मे काम मे लेने लये याने कि लक्ष्य खाने की तरफ न रहे बल्कि आत्मा की तरफ रहे।

चंपा द्वार खुले

अब सुभद्रा नगरी की चार-दीवारी के दरवाजो के पास आई। वहा पहुँचते ही सब से पहले उस ने मन ही मन में नवकार-मन्त्र का पाठ किया। तब दरवाजों पर उस पानी को छिडका। पानी के छिडकते ही दरवाजे खुल पडे। जिन दरवाजों को खोलने तो क्या एक इच-भर इधर से उधर हटाने तक के लिए नगरी की सम्पूर्ण शक्ति भी वेकार सिद्ध हो चुकी थी और सम्पूर्ण हाथी एक ही साथ जुट कर भी जिन्हें टस से मस नहीं कर सके थे ? सुभद्रा के सतीत्व बल ने उन्हें बात की बात में खोल फेंका।

सती का सत्कार और प्रशंसा

लोगों ने आज अपनी आखों से सतीत्व के बल की महिमा को जाना-पहिचाना। उस के सासू-ससुर तथा नगर के अन्य नर-नारी वहा के राजा के साथ सुभद्रा के शुद्ध सदाचार, परमोज्ज्वल शील और जैन धर्म की बारम्बार प्रशंसा करने लगे। सभी ने मिल कर सुभद्रा से अपने-अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की। केवल एक दरवाजे को छोड कर एक-एक कर के सुभद्रा जब सभी दरवाजों को खोल चुकी थी।

उसी समय राजा स्वय उसे अपने साथ लेकर उस के घर तक पहुचा आया और राज्य की ओर से उस का यथेष्ट सम्मान किया। तब तो वे ही सासू और ससुर तथा अन्य पारिवारिक जन, जो सुभद्रा को अब से कुछ घडियों के पहले कानी आख तक से देखना भी पाप समझते थे। सभी ने एक सिरे से उसी सुभद्रा को अब साक्षात् दुर्गा, शक्ति और लक्ष्मी के प्रत्यक्ष रूप में देखा और उस का उचित सम्मान किया। यही नहीं उसी दिन से स्वय बुद्धचन्द्र उस के, पिता और माता तथा परिवार के अन्य व्यक्ति, सब के सब जैन-धर्म के

तप और मनोनिग्रह :

जो तपाराधन किया जाता है, वह स्वय साध्य नही है । वह तो साधन मात्र है तो इस दृष्टि से यह देखा जाना चाहिये कि यह किस साध्य का साधन है अर्थात् तपाराधन का साध्य क्या है ? सोचिये कि तपाराधन मे अनशन तप करें, उणोदरी या भिक्षाचरी करे अथवा किसी अन्य प्रकार का तप करें, उससे क्या प्राप्त करने का लक्ष्य रहता है ? क्या उपवास किया और कार्य समाप्त हो गया अथवा उस उपवास से कुछ अन्य भी प्राप्त करने का लक्ष्य रहता है ? जरा गहरे उतर कर विचार करेंगे तो स्पष्ट होगा कि तपस्या करके आत्मा का पोषण करना चाहते हैं । यह आत्मा का पोषण कैसे होगा ? पहले तो यह देखें कि आत्मा का पोषण क्या होता है ? आत्मा के पोषण को शरीर के पोषण की तुलना मे सोचें क्योकि जीवन मे मुख्यत. दो ही दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं और कर्मों के फलोदय के भी मुख्य रूप से दो ही प्रकार मिलते हैं । ये दोनो दृष्टिकोण ससार के मुख्य दो तत्त्वो से सम्बन्धित हैं । ये दो तत्त्व हैं—जड और चेतन । जो जड दृष्टिकोण है, वह शरीर पोषण का दृष्टिकोण है तथा जो चेतन दृष्टिकोण बनता है, वह जीवन मे आत्मा के पोषण की निष्ठा पैदा करना है । ससार और मोक्ष के रूप मे ये दोनो दृष्टिकोण दो भिन्न–भिन्न छोर हैं । शरीर का पोषण है, वह ससार भ्रमण का कारण है तथा आत्मा के पोषण से मोक्ष का मार्ग पर–गतिशीलता होती है । इस कारण विकास की जितनी चर्चा है, वह शरीर पोषण से हट कर आत्म–पोषण की ओर आगे बढने से सम्बन्धित होती है ।

आत्मा के पोषण का अर्थ है कि शरीर पोषण के पदार्थों का त्याग किया जाय तथा उनकी लिप्सा को छोडने के लिये तपाराधन किया जाय । इस त्याग और तप से सारी वृत्तियो और प्रवृत्तियो का केन्द्र आत्मा बनती है— जीवन में आत्माभिमुखिता प्रमुख रूप ले लेती है । तब सारे कार्य-कलापो का निर्धारण आत्म–स्वरूप को निखारने की दृष्टि से ही किया जाता है । जब जीवन मे ऐसा क्रम बन जाता है तो उसे सच्चे अर्थों मे आत्मा का पोषण कहा जाता है ।

तपाराधन को आत्मा के पोषण का प्रमुख साधन बताया गया है क्योकि तप आत्म–प्रदेशो को तपाता है । तप की प्रक्रिया मे आत्म–प्रदेश तपते हैं तो उनके साथ लगी हुई कर्म रज हट जाती है और विकार जल जाते हैं। तभी होता है जब मन पर निग्रह किया जाय—मन की चचलता को पूरे

[६] "कटीली झाड़ियां बिना बोये ही अपने आप उग आती हैं, परन्तु आम के पौधे हर प्रकार की सावधानी करते रहने पर भी कठिनाई से पनपते हैं।" इस कथन की सच्चाई को सुभद्रा के चरित्र पर घटा कर दिखाओ।

[७] "सोने का मैल अग्नि के ताप ही से दूर हो सकता है।" सुभद्रा के चरित्र के लिए यह सिद्धान्त कहां तक लागू होता है ?

[८] कुऐ पर जो नर-नारी इकट्ठे हुए थे, क्या सचमुच ही वे अन्धे, बहिरे और परायों के इशारों पर नाचने वाले थे ? यदि हां ! तो कैसे ?

[९] सिद्ध करो कि "सुभद्रा नारी के रूप में दुर्गा थी, सती थी, शक्ति थी और महालक्ष्मी थी।"

सच को साक्षी या सौगन्ध की,
आवश्यकता नहीं पड़ती है।
निर्बल आत्माओं के दिल पर
बहमों की जड़ आ जमाती है॥

❀ ❀ ❀

दुर्गुण दुर्गुणी देखता है,
सद्गुणी को गुण दिखलाता है।
जैसी जिसकी भावना है वह नर,
वैसा ही बन जाता है॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकर जी म०

स्वाद-जय की भूमिका : रस परित्याग

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती……"

शान्तिनाथ परमात्मा के चरणो मे जिस आन्तरिक उपलब्धि की जिज्ञासा के साथ अनुसन्धान का विषय चल रहा है, उस आन्तरिक शक्ति पु ज को प्राप्त करने के लिये शुद्ध प्रणिधान की नितान्त रूप से आवश्यकता है। प्रणिधान शुद्ध भी होता है और अशुद्ध भी। प्रणिधान तो यथायोग्य रीति से सर्वत्र विद्यमान रहता है, परन्तु प्रश्न उसकी अशुद्धता या शुद्धता का है। जहां असख्य प्रदेशी आत्मा अपने अस्तित्व को लेकर अपनी गति से प्रवाहमान बन रही है, वहां प्रणिधान का योग तो उसके साथ सदा तादात्म्य रूप से जुडा ही हुआ है। परन्तु उस प्रणिधान के स्वरूप को सही रूप से न समझें तब उसके दुरुपयोग की दशा मे वह प्रणिधान स्वय आच्छादित हो जाता है, आवृत्त होकर ढक जाता है। उसके आच्छादित हो जाने से समग्र आत्मिक शक्तियां अधोमुखी बनती हैं।

आत्मा का मूल स्वभाव उर्ध्वमुखी होता है। वह अधोमुखी बनती है—यह उसका स्वभाव नही है—विपरीत स्वभाव है। स्वभाव की विपरीतता को विभाव कहते हैं। वह वासनाओ और विकारो मे फसती है और सुख मानती है—यह उसके विभाव की दशा होती है। जब आत्मा विकारो मे ग्रस्त बन जाती है तो इस विभाव को ही अपना स्वभाव मान बैठती है। यह उसकी अज्ञान अवस्था होती है। यद्यपि अन्त करण मे कभी-कभी स्वभावगत शुद्ध विचार उठते हैं, किन्तु विकृत विचार उन्हे दबा देते हैं। विकारो के अभ्यास एव कुसगति के प्रसग से आत्मा कुव्यसनो मे रचने-पचने लगती है। पहले पहल तो शुद्ध विचारो का प्रवाह ही बहता है किन्तु कुव्यसनो के

दमयन्ती का स्वयंवर एवं विवाह

निर्धारित समय पर दमयन्ती अपनी सखी-सहेलियों को साथ लेकर सभा-मण्डप में पहुची। वह पुष्पमाला को अपने हाथों में लेकर मडलाकार-मण्डप में एक छोर से दूसरे छोर की ओर आगन्तुक राजा, महाराजा एव युवराजों की वशावली, विद्या, बल, कौशल आदि का भाटों के द्वारा पूरा-पूरा परिचय पाती हुई धीरे-धीरे बढती चली जा रही थी। साथ की कुछ सखियों के हाथ में एक विशाल दर्पण था, जिस में दमयन्ती आये हुए लोगों के रूप और शारीरिक-सम्पत्ति को स्वय देखती जाती थी।

चलते-चलते ज्यों ही वह राजा नल के निकट पहुँची और ज्यों ही दर्पण में उस के प्रतिबिम्ब को उस ने टकटकी लगा कर देखा, वह वहीं ठिठक रही। उसी समय दमयन्ती ने नल को अपने अनुकूल वर समझा और उसी क्षण उस के गले में प्रेम से विह्वल हो कर जयमाला उस ने डाल दी। चारों ओर से जयघोष के साथ वर और वधू पर पुष्पों की वर्षा हुई। उस के पिता ने तब बडे ही उत्साह एवं समारोह के साथ उन का विवाह सस्कार कर दिया।

नारी : तब और अब

तब और अब के युग में आकाश और पाताल का अन्तर हो गया है। आज पहले तो विवाह के समय तक कन्याए उस अवस्था को पहुच ही नहीं पाती। जब कि वे स्वयं अपने हित और अहित का पूरा-पूरा विचार कर सकें। दूसरे उन की अपनी अविद्या, माता-पिताओं के स्वार्थ-साधन और वर्तमान युग के रूढ़िवाद के कई झमेलों के कारण वे अपने ही द्वारा अपने भाग्य-निर्णय के अपने नारी सुलभ जन्मजात अधिकार को भी खो बैठीं।

की शुद्धि में कथन किया जा सकता है, परन्तु उस समय के बाद उनमें उस अवस्था का कथन नही है । वह अवस्था उस शुद्ध प्रणिधान के साथ सटती हुई चली जाती है । उस शुद्ध अवस्था मे प्रथम समय को छोडकर द्वितीय अवस्था है और द्वितीय के बाद सिद्धो के लिये वही अवस्था है । तब उन सिद्ध आत्माओ मे शुद्ध प्रणिधान के माध्यम से शान्ति का परम स्वरूप निखर उठता है । उन सिद्ध आत्माओ के समक्ष अशान्ति के घोरतम निमित्त भी यदि उपस्थित हो जाय तब भी सिद्धात्मा के अनन्तवें से अनन्तवें भाग मे भी अशान्ति का प्रश्न पैदा नहीं होता है । उस पूर्व की अवस्था का ख्याल रख करके जब साधक अपनी वर्तमान अवस्था मे अपने उपादान, निमित्त, सहकारी कारण सामग्री एव पुरुषार्थ का सयोग मिलाकर अपनी आन्तरिक जागृति लाता है तब उसका प्रणिधान शुद्ध बनता है एवं वह अपनी स्वभाव–दशा को प्राप्त होता है ।

तपः साधना से लक्ष्य की ओर गतिः

शुद्ध प्रणिधान एवं मूल स्वभाव दशा की प्राप्ति सहसा नही हो जाती है । आन्तरिक जागृति के लिये कठिन प्रयास करना होता है । जिस अशुद्ध प्रणिधान के कारण आत्मा की अनादिकालीन दशा मलिन भावो के साथ चल रही है, उन मलिन भावनाओ को तत्काल हटा देना कोई बच्चो का खेल नही है । इसमे अनुकूल वायुमण्डल की अपेक्षा रहती है और साथ ही निमित्त शक्ति की भी आवश्यकता होती है जो उपादान का उस रूप मे निर्माण करे । तब साथ में सहकारी कारण सामग्री एवं पुरुषार्थ का बल जुडता है तो साधना का सफल रूप सामने आता है ।

वीतराग देव ने इस साधना को सम्पादित करने एव प्रणिधान को शुद्ध बनाने के लिये तपस्या का उल्लेख किया है जिसके आराधन से लक्ष्य की ओर सचोट गति की जा सकती है । तप बारह प्रकार का बताया गया है और उनमें से तीन प्रकारों पर विचार करते हुए यह समझा गया है कि सिर्फ अनशन करना ही तप नही है, बल्कि अनशन तो तप के बारह प्रकारो मे से एक प्रकार मात्र है । दूसरे और तीसरे प्रकारो पर उणोदरी तथा भिक्षाचरी का विश्लेषण किया गया है । यह तप साधना आत्मा के मलिन भावो को नष्ट करती है तथा उसे आन्तरिक शक्तियो के स्रोत की ओर मोडती है । आत्म–विकास के पवित्र लक्ष्य के साथ जो तपाराधन करता है, वह अपने कर्मों की निर्जरा करता है । यह सकाम निर्जरा होती है और सकाम निर्जरा ही आत्म शुद्धि का कारण बनती है । सकाय निर्जरा से ही आत्म शुद्धि होती है और

यही कारण है कि आज देश की दसों दिशाओं में विधवाओं विशेषत' बाल-विधवाओं की एक बरसाती बाढ सी आगई है। जिन के करुण-क्रन्दन से पृथ्वी और आकाश काप-काप उठे हैं। दिशा-विदिशाओं में उदासी, मुर्दादिली, काहिली और जाहिली छा गई है। ये ही विधवाएँ अपनी शिक्षा-हीनता के कारण आये दिनों मनचले गुंडो के हाथों में गुमराह होकर वेश्यालयों में पहुच वेश्याओं की संख्या को बढा रही हैं। जहा एक ओर तो देश के ईमान, धर्म, धन का दिन-दहाडे खून हो रहा है और दूसरी ओर विधर्मियों की संख्या अकथक रूप से बढ रही है।

जागो और उठो !

तब तो अब हमारी माताओं और बहिनों को ही स्वय अपने, अपनी जाति के, अपने देश और समाज के चिरन्तन जीवन, रक्षण, उत्थान और कल्याण के लिए कमर कस कर उठ खडे होना पडेगा। ये सभी पाप पूर्ण बातें बात की बात में उसी घड़ी भाग सकती हैं, जब कि स्वय नारी अपने आप सामुदायिक बल से गृह लक्ष्मियां बन ने की अपनी असली शिक्षा के पेचीदा प्रश्न को सब से पहले सुलझा लें। ज्ञान के दिव्य और प्रखर प्रकाश के फैलते ही स्वय नारी के और हमारी समाज, देश तथा जाति के सारे संकट के बादल बात की बात में छिन्न-भिन्न हो जावेंगे। दमयन्ती का जीवन चरित्र भी यही बात बताता है और महिला जाति को अपनी नींद छोड़ देने के लिए पुकार रहा है।

दमयन्ती की विदाई

दमयन्ती का विवाह उस के चुने हुए पति के साथ बड़ी ही धूम-धाम से हो गया। उस जमाने में कन्याओं के बदले में पैसे लेना अर्थात् जीवित मांस को अपने मुंह मागे मोल और तोल पर बेचना घोरतम पाप का काम समझा जाता था। यही कारण था कि उन

उसका प्रमुख उद्देश्य ही यह होता है कि रसों के संयोग से भोजन स्वादिष्ट, रसदार, और जायकेदार बने। रसना की रसिकता यह होती है कि वह स्वादिष्ट भोजन अधिक पसन्द करती है। यो कहे तो भी चलेगा कि रसना सदा स्वादिष्ट भोजन के लिये लालायित रहती है। मोटे तौर पर स्वाद कोई बडी बात नहीं लगती, किन्तु सभी जानते हैं कि मनुष्य के जीवन मे स्वाद का कितना बडा प्रलोभन होता है और स्वादिष्ट भोजन का रसिक बनकर वह कहां-कहां किन-किन विकारो मे अपने आपको फंसाता है? कहा गया है कि कबूतर कंकर चुग कर भी काम की मार से नही बच पाता है तो जो स्वादिष्ट और उत्तेजक भोजन करता है, वह काम के वशीभूत होकर किस सीमा तक आत्मपतन की गहराइयो मे डूबता जाता है?

यही कारण है कि सभी महापुरुषो ने जीवन में शुद्धाचरण के लिये स्वाद को छोडने और सादा भोजन ग्रहण करने की बात कही है। किन्तु महावीर ने जो रस परित्याग का तप बताया है, वह और भी आगे बढाने वाला है। जब तक कोई आकर्षण होता है मनुष्य का मन चचल बनता रहता है, किन्तु अगर आकर्षण को ही समाप्त करदें तो वह चचलता भी स्वत ही समाप्त हो जायगी। भोजन का आकर्षण होता है—रस और इसलिये आत्मशुद्धि की ठोस भूमिका तैयार करने के लिये रस के ही परित्याग का निर्देश दिया गया तथा इसको तप बताया गया। जब नीरस भोजन ही करना कोई अपना क्रम बना लेता है तो उसकी जिह्वा भी चचलता छोड देती है। वह बिना किसी लोलुपता के उस नीरस भोजन को ग्रहण करती है और समभाव से उसका आस्वादन लेती है। स्वाद-जय इसी अवस्था का नाम होता है जब रच-मात्र भी यह ख्याल या अनुभव नही होता कि वह खाने के लिये जी रहा है। तटस्थ भाव यही बना रहता है कि जीने के लिये खाना है। नीरस भोजन के माध्यम से स्वाद-जय के लक्ष्य तक पहुचा जा सकता है। इस दृष्टि से स्थूल दृष्टि से आगे बढकर जब सूक्ष्म दृष्टि से रस-परित्याग के तप की महत्ता का विश्लेषण किया जायगा तो समझ मे आ सकेगा कि यह तप स्वाद-जय की उपलब्धि कराता हुआ मनुष्य के जीवन मे आत्म-शुद्धि का ठोस धरातल तैयार करता है।

समग्र त्याग का सार—रस परित्याग :

रस परित्याग की स्थूल परिभाषा तो अत्यन्त सरल प्रतीत होती है कि एक या दो विगई का त्याग कर दिया जाय, किन्तु सूक्ष्म रस परित्याग की

नल के भाग्य को सैंकडों बार सराहा और दमयन्ती के वैज्ञानिक-ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा उन्हों ने की।

'राजा-राज और प्रजा-चैन'

बारात ने अपना बोरी-बधना बांधा और अयोध्या की ओर को कूच कर दिया। तूफान भी अयोध्या में पहुँचते-पहुँचते पूरा-पूरा शान्त हो गया। 'राजा-राज और प्रजा-चैन' के नाते सभी अपने अपने काम में जुट पडे। पूर्ण शान्ति और न्यायपूर्वक राज करने के कुछ ही दिनों पश्चात् अयोध्या नरेश को संसार से उपराम हो आया। तब तो वे अपने सुपुत्र नल को राज्य का भार सौंप कर आत्म-कल्याण के लिये सलग्न हो गये।

कुबेर की ईर्ष्या

कुबेर इस बात को अधिक काल तक सहन न कर सका। उस ने मन ही मन कहा-"मैं भी उसी राजा का पुत्र हू। छोटा हुआ तो क्या ? पर यह तो हो ही कैसे सकता है, कि बडा भाई तो राज करे और छोटा बैठे-बैठे उस का मुंह ताकता रहे ? असम्भव ! एकदम असम्भव !!" उस ने अन्त में एक उपाय ढूंढ निकाला। वह था 'जूआ खेलना'। नल भी इस कला में बड़ा प्रवीण था। वह भी किसी ऐसे अवसर की ताक में ही था कि कोई उसे आकर जूआ खेलने को कहे। कुबेर की मनचीती हो गई। उस ने अपने भाई के सामने जाकर जूआ खेलने का प्रस्ताव रक्खा। नल ने उसी समय 'हां' कह के उस का अनुमोदन और समर्थन कर दिया।

नल : सर्वस्व हारा

एक दिन समय नियत हुआ, जब दोनो जूआ खेलने को तत्पर हुए। पैसे, रुपये और मोहरों की कौन कहे ? उस दिन तो पूरा-पूरा

रस-परित्याग की व्यापकता और गहनता :

जब कभी विगहो—रसदार पदार्थों का त्याग कराया जाता है जिसके अनुसार अमुक रसो, हरी वनस्पति, कच्चे पानी आदि के प्रत्याख्यान लिये जाते हैं—तो कभी-कभी किन्ही चिन्तको के मस्तिष्क मे सहज ही यह प्रश्न खडा होता है कि यह भी भला कोई त्याग है ? ऐसे त्याग से क्या बनेगा ? साधारणतया वे इस त्याग की व्यापकता और गहनता मे नहीं उतरते, किन्तु जब कोई जिज्ञासु ऐसे छोटे दीखने वाले त्याग की तह मे जाता है तो उसे इसका महान् रहस्य विदित होता है । जिज्ञासु अपनी ऐसी जिज्ञासा की पूर्ति चिन्तन-मनन से तो करते ही हैं, किन्तु सन्त समागम मे आकर प्रश्न चर्चा की भी आदत होनी चाहिये । सोचे हुए पर प्रश्न पूछना—यह शुभ चिह्न है, क्योंकि उससे समाधान का मार्ग खुलता है । जो ऐसा समाधान नही करके शकाओं के साथ अपने मन ही मन मे घुटते रहते हैं, वे अपने अन्त करण की कलियो को खोलने मे भी समर्थ नहीं होते हैं । स्वाध्याय व चिन्तन-मनन के साथ प्रश्न चर्चा का भी क्रम बनाये रखना चाहिये जिससे किसी भी तत्त्व की व्यापकता एव गहनता का आभास होता है, उसके अनुकूल चरित्र-साधना की वृत्ति ढलती है तथा इस प्रकार आत्म-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त बनता है ।

रस-परित्याग की व्यापकता और गहनता यही है कि स्वाद-जय का मुख्य आधार इससे बनता है, जिस पर शुद्ध प्रणिधान, शान्ति एव आत्मिक-शुद्धि का उच्च प्रासाद निर्मित किया जा सकता है । आप प्रश्न कर सकते हैं कि आत्मा का शुद्धिकरण किस प्रकार से होता है ? रोग का सही निदान करके जब सही औषधि का सेवन किया जाता है, तभी औषधि राम-बाण की तरह काम करती है । अगर रोग का निदान ही न हो तथा अच्छी-अच्छी औषधिया सेवन करते रहें तो क्या रोग नष्ट हो सकेगा ? इसी प्रकार आत्मा की अशुद्धि भी एक रोग है और इस रोग का जो निदान केवलज्ञानियो ने दिया है और उसकी जो औषधि बताई है—वही सच्चा निदान एव सच्ची औषधि है । केवलज्ञान एव केवल दर्शन पर आरुढ होकर उन्होने समग्र लोक एव उसकी सर्वव्यापक गतिविधि तथा प्राणियो के कार्यकलापो को हस्तामलकवत् देखा है और उसके बाद ही उन्होने आत्मा की अशुद्धि के रोग को परखा है व उसके मूल पर प्रहार किया है । इस रोग का मूल बाह्य पदार्थों की आसक्ति मूर्च्छा मे है । आत्मा को अशुद्ध बनाने वाली यही मूर्च्छा भावना है । यही मूर्च्छा भावना मन को अनियन्त्रित चपल तुरग की तरह चारो ओर दौडती है तो

पूछा जाय तो कुछ रह नहीं पाता। जुआरियों का धन क्षण भर का होता है। अन्त में जुआरी जहां का तहा बना रहता है।

सौ-सौ आंसु : एक-एक दाना

इसी जूआ के प्रभाव से कई राज्य आज बिगड गये, कई धनी कगाल बन गये तथा कई नामी वंश नेस्त-नाबूद हो गये और दाने-दाने को मोहताज हो कर इधर से उधर मारे-मारे फिर रहे हैं। आज सौ-सौ आसुओं के बदले भी एक-एक दाना मिलना उन के लिए कठिन हो रहा है। फिर भी लोग जूआ से धनाढ्य बन कर सुख-भोग करना चाहते हैं। यह तो उन की हिमालय जैसी भयंकर भूल है।

कुबेर को फटकार

जूआ ने राजा नल को भी अपना शिकार बना लिया। वह अपनी राज्यश्री और प्राणेश्वरी दोनों को जब हार चुका, तब तो वह नगर को छोड कर अन्यत्र जाने लगा। दमयन्ती भी उस समय उस के साथ हो ली। तब कुबेर ने उस का हाथ पकड कर झटक दिया। इस पर लोगो ने उस को खूब ही खरी-खोटी सुनाई। लोक-निन्दा के भय से उस ने बडे भाई की औरत को मां के समान समझ कर छोड दी और आप स्वय महलों में चला गया।

नल-दमयन्ती जंगल की ओर

नल और दमयन्ती तब दोनों एक सुनसान जगल में पहुचे और थकावट के कारण दोनों एक झरने की तलहटी में सो रहे। अभी दमयन्ती की आख जरा लग ही पाई थी कि इतने ही में नल ने सोचा:—

"स्त्री को साथ में रहना पुरुष का पग बन्धन है।"

इन्द्रिय की मूर्च्छा सारी आत्मिक मूर्च्छा की मूल है, इस कारण इसी मूर्च्छा पर सबसे पहले सचोट प्रहार किया जाना चाहिये ताकि जीवन के सभी क्षेत्रों मे पवित्रता का वातावरण निर्मित हो सके एव वह पुष्ट बन सके ।

स्वाद-जय की भूमिका पर :

विवेकशील व्यक्ति चाहता है कि उसका जीवन पवित्र बने, परिवार मे पवित्रता आवे; सामाजिक वायुमण्डल शुद्ध हो, राष्ट्रीय धरातल पर अनैतिकता समाप्त हो तथा सारे विश्व मे शान्ति का साम्राज्य दिखाई दे । यह सब कैसे हो सकेगा ? इस प्रश्न का यदि कोई एक ही उत्तर चाहे तो वह यह हो सकता है कि यह सब स्वाद-जय की भूमिका पर सम्भव है । जिह्वा की आसक्ति को छोडकर जो भी भोजन ग्रहण किया जायगा, वह कही भी कुप्रभाव प्रकट नहीं करेगा । सादा भोजन सादे जीवन का मूलाधार होता है । जिसने आसक्ति का और वह भी रसना की आसक्ति का त्याग कर दिया है, वह साधक आन्तरिक शक्तियो को जागृत बनाता हुआ आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा तक पहुचा है ।

रसना की आसक्ति आज तक भयावह परिणाम लाने वाली सिद्ध हुई है । कारण, रसना की आसक्ति असीम होती है । जिसके भीतर से रसना की आसक्ति पूरे तौर पर मिटी नही है, वह सब कुछ त्याग कर साधना के क्षेत्र मे चल पडा हो और भले ही वह उत्कृष्ट साधना के स्तर तक भी पहुच गया हो किन्तु जब भी रसना की वह आसक्ति भडकती है तो उत्कृष्ट साधना के ऊपरी छोर तक पहुच कर भी वह साधक धराशायी हो जाता है । एक रसना की आसक्ति के कारण उसकी सारी साधना धूल मे मिल जाती है ।

स्वाद-जय सरल उपलब्धि नही होती है । स्वाद को जीतने मे भी एक सतत साधना करनी पडती है । गर्म पानी का जायका और ठंडे पानी का जायका अलग-अलग होता है । जो स्वाद जीभ को कच्चे पानी मे आता है, वह उसे पक्के पानी या धोवन पानी मे नही आता । जो हरी सब्जी मे जायका आता है; वह दाल मे नहीं आता और जो घी-तैल व मिर्च-मसालो के छौंक मे जायका आता है वह बिना छौक की सब्जियो या दाल मे नहीं आता । इस कारण हरी वनस्पतियों का त्याग भी किस दृष्टि, भाव एव स्थल पर कराना चाहिये—यह भी विवेक का विषय है । इस त्याग के पीछे भी सदा सही दृष्टिकोण रहना चाहिये । जहा एक ओर पदार्थों के त्याग पर बल दिया

नल—दमयंति का पुनर्मिलन

इधर-उधर घूमते-फिरते एक दिन 'अचलापुरी' में अपने मौसा के यहा जा पहुची। उस समय तक नल भी अचलापुरी में जा पहुँचे थे। पूरे वारह वर्ष के वाद नल और दमयन्ती का पुनर्मिलन हुआ। उन्हें असीम आनन्द हुआ। इसी अवधि में कुवेर का निधन हो चुका था। तव वे दोनों अयोध्या में पहुचे। राजा नल ने फिर से शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेकर कई वर्षों तक सुख, शान्ति, और न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन किया।

अन्त में कुछेक वर्षों के वीतने पर दमयन्ती का दिल दुनिया से ऊब उठा और उस ने आत्म कल्याण के लिए उतारु हो दीक्षा धारण कर ली। फिर निरन्तर आत्म-चिन्तन में रहने लगी। तभी से वह जैन जगत् की महासतियों में गिनी जाने लगी।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] दमयन्ती का प्रारम्भिक परिचय देते हुए उस के स्वयंवर का सागोपाग वर्णन करो ?

[२] तव और अव की कन्याओं के वर ढूढने और विवाह करने की प्रथाओं में जो अन्तर हो गया है, उस का सकारण वर्णन करो।

[३] आज की वैवाहिक प्रथा से होने वाली हानियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन करो

[४] वारात के वन में पहुचने पर कौन-सी घटना घटी, और दमयन्ती ने उसे कैसे दूर किया ?

[५] जूआ की व्यापकता और उस से होने वाली हानियों की रूपरेखा थोड़े में खींचो।

[६] दमयन्ती के शीलधर्म ने नल को फिर से कैसे मिलाया

बताया कि ऐसा करने के लिये उसने प्रयास किया था किन्तु साधक ने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। राजा ने फिर प्रयास करने का आग्रह किया। दीवान दीर्घ-द्रष्टा थे और साधना का उन्हें अनुभव था। उन्होने सोचा कि यह साधक अपरिपक्व अवस्था से ही एकाकी है सो यह मूल मे ही भूल है। मूल उस साधक के हाथ में नही है वह तो केवल फूल पत्ती की साधना कर रहा है, इस कारण मूल पर चोट करके उस साधक को वश मे किया जा सकता है।

यह तथ्य समझने लायक है कि अपूर्ण अवस्था में जब कोई साधक एकाकी रहता है और कभी कोई वासना प्रबल बन जाती है तो उसके सामने उसका टिका रहना कठिन हो जाता है। जो अपूर्ण अवस्था मे अपने साथियो के साथ साधना करता है, वह साथियों के बीच अपनी लाज के कारण भी अपने दुर्बल क्षणों मे पतित होने से बच जाता है। साधनारत जीवन मे सर्वोपरि अनुशासन की भी आवश्यकता होती है। अन्यथा स्वतन्त्र साधना स्वच्छन्द भी बन सकती है। दीवान ने साधक की मूल दुर्बलता पकड ली, क्योकि उन्हें राजा की इच्छा पूरी करनी थी। उन्होने एक वेश्या को बुलवाया और उसे उस साधक को वन से राजभवन मे लाने का निर्देश देकर साधक की गुफा तक पहुचा दिया।

वेश्या ने पहले दिन साधक के सारे क्रिया-कलाप का अवलोकन किया। उसने देखा कि वह चौबीस घण्टो में केवल एक बार बाहर निकला और वृक्ष का रस चूस कर फिर भीतर चला गया। उसने गुफा के पास ही अपने रहने का तम्बू गडवाया और वहां नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य व्यंजनो को उसने तैयार करवाया। वे रसदार व्यजन उसने वृक्ष के तने पर लिपटवा दिये। वह दूर खडी देखती रही साधक हमेशा की तरह गया और वृक्ष का तना चाटने लगा। आज उसे वहां कुछ अनोखा ही स्वाद आने लगा। वह चाटता रहा और पूरा चाटकर गुफा मे चला गया। अब प्रतिदिन वेश्या विशेष स्वाद वाले रसदार पदार्थों का इस प्रकार साधक को रसास्वादन कराने लगी। तब साधक गुफा में जाकर साधना का ध्यान भूलने लगा और स्वाद का ध्यान करने लगा। उसकी लोलुपता बढी। वेश्या मनोविज्ञान की ज्ञाता थी। सायंकाल जब दर्शनार्थी चले गये तो उसने वृक्ष के तने पर रसदार पदार्थ का फिर लेप करवा दिया। लोलुपता का मारा साधक चुपचाप रात को उठा और बाहर निकल कर वृक्ष के तने को चाटने लगा। वेश्या पुन: पुन साधक के

"क्या ही अच्छा होता। मेरे भी कुटुम्ब में एक आध लड़का-लडकी हुआ होता। जैसे जीव बिना देह सूनी, नीर के बिना नदी सूनी है, ठीक वैसे ही पुत्र के बिना घर सूना है। पुत्र घर की शोभा है, वह अंधियारे घर का एक मात्र दीपक और वश बेलि का जीवनाधार है।"

उसी समय उस का पति वहा आगया। उस ने अपनी प्रेयसी को उदास देखा और उस की उस असामयिक उदासीनता का कारण पूछा। उत्तर में सुलसा ने कहा—

"कुटुम्ब जागरण जागते हुए भी अपने कुटुम्ब मे कोई पुत्र-पुत्री नहीं। घर पुत्र के बिना खुला भी कैसे रह सकता है ?"

उस के पति रथिक ने कहा—

"प्रिये किसी भैरव-भवानी की मिन्नत क्यों नहीं ले लेती ?"

"क्या उन की मिन्नत पुत्र-पुत्रियों को देने वाली होती है ? नहीं कदापि नहीं। एकदम असम्भव। क्या उन के पास पुत्र-पुत्री पड़े हुए हैं, सो देते हैं ? मुझे तो यह कथन युक्ति सगत नहीं जंचता।" सुलसा ने यथार्थ उत्तर दिया।

देवी-देवता संतान नहीं देते

क्या हमारी आज की माताएं और बहिनें! महासती सुलसा के इस कथन से कोई पाठ सीखने का प्रयत्न करेंगी ? धर्म पर सुलसा की कितनी दृढ धारणा थी ? एक सधवा सती यदि अपने पतिदेव को छोड कर किसी देव या भैरव-भवानी से पुत्र प्राप्ति की आशा और प्रार्थना करे, अपने पतिदेव की महत्वता और शील-धर्म को खो बैठना है।

"स्याने-दीवानों को झुक-झुक के सलाम।
पीरों-फकीरों को बरफी बादाम।—"

हिंसा-अहिंसा का प्रश्न है तो स्वाद-जय का दृष्टिकोण भी उतना ही प्रमुख रहना चाहिये। किसी भी वस्तु को जितना जायका ले लेकर खाते हैं, उतने ही चिकने कर्मों का बन्धन होता है। एक तुलना करें कि एक की थाली में आमरस का कटोरा है और दाल का कटोरा भी रखा है। जहा तक दाल बनाने का प्रश्न है, उसमे छ काया के जीवों का आरम्भ-समारम्भ हुआ है और आमरस तैयार करने मे सिर्फ गुठली के जीव को ही कुछ कष्ट हुआ है। उसके पास ही दूसरा भी रोटिया खाने बैठा मगर उसके पास लगावन कुछ नही है। वह पहले व्यक्ति से कुछ लगावन देने को कहता है तो सोचिये, वह उसको कौनसा लगावन अपनी इच्छा से देगा—आमरस का कटोरा या दाल का कटोरा ? दाल को तैयार करने मे ज्यादा हिंसा हुई है, मगर जायका किस में ज्यादा आता है ? खानी तो रोटियां है, किसी भी लगावन से खाई जा सकती हैं अगर आसक्ति न हो। मगर रसना की आसक्ति हिंसा-अहिंसा को भी नही देखती। इसलिये अहिंसा का पालन और साधना द्वारा इन्द्रिय दमन भी स्वाद-जय पर निर्भर करता है। आसक्ति का त्याग मुख्य है। जैसी आसक्ति हरी वनस्पति के साथ है और अगर उससे भी अधिक आसक्ति सूखे पदार्थों के साथ रही हुई हो तो हरी का त्याग भी उतना महत्वपूर्ण नही बनता है। यही कारण है कि रस परित्याग का तप अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे स्वाद की आसक्ति छूटती है।

रस-परित्याग आचरण का विषय :

रस-परित्याग इस दृष्टि से मुख्यत आचरण का विषय है। आचरण के बिना कथन व्यर्थ है। भोजन-भोजन कहने से क्षुधा शान्त नही होती—भोजन ग्रहण करने से होती है। उसी तरह रस-परित्याग के तप का आचरण करने से आत्मिक शुद्धि की महत्ता प्रकट होगी। "बाबा जी बैंगन खाए और दूसरो को प्रबुद्ध बनाए" की कहावत आप जानते हैं। आचरण का ही दूसरो पर भी प्रभाव गिरता है, सिर्फ कथन का नहीं। स्वाद-जय का जहा प्रसग है, वहा तो आचरण को और अधिक महत्व देना होगा कि साधक स्वय पहले स्वाद को जीते, तब दूसरो को भी स्वाद की लोलुपता छोड़ने को कहे। तभी उसके कथन का समुचित प्रभाव हो सकता है।

रस-परित्याग के महत्त्व को जो समझ लेता है, वह इतना ही नहीं समझता कि उसने घी, दूध आदि विगहो का त्याग मात्र ही किया है बल्कि जो कुछ भी भोजन उसकी थाली में आता है, उसे वह बिना किसी लोलुपता

को सात्विक-भाव से बहराने के लिये सुलसा भीतर की ओर लेने गई। तेल केवल चार शीशियों में था। उन में से वह एक शीशी को उठा कर बाहर की ओर चली। देव ने अपनी माया फैलाई। आते-आते मार्ग में उस का पैर फिसल पडा। वह भी धडाम से गिर पडी और शीशी भी टुकडे-टुकडे हो गई।

सुलसा ने न तो अपनी चोट ही की कोई परवाह की और न उस बहुमूल्य तेल ही के लुढक जाने की कोई चिन्ता उस के चित्त में उस समय थी। यदि कोई चिन्ता थी तो केवल मुनिराज के चले जाने की। वह प्रतिपल यही सोचती जाती थी कहीं मुनिराज बिना तेल ही बहराये ही उलटे पैरों लौट न पडे। स्फूर्ति से सुलसा उठ बैठी और दूसरी शीशी ले आने को गई। लपक कर वह दूसरी शीशी ले आई। पर देव की माया भी अपना काम कर ही रही थी। आते-आते वह शीशी भी दरवाजे की चौखट से टकरा गई। टकराते ही शीशी चटक गई और तेल सारा का सारा टपक पडा। अब तीसरी शीशी लाने की बारी आई। सुलसा शीघ्र ही तीसरी शीशी ले आई, परन्तु वह भी लाते-लाते किसी अदृश्य कारण से चटक गई और तेल सारा उस में से धरती पर जा गिरा। चौथी शीशी को लाने पर उस की भी वही दशा हुई।

सुलसा की ग्लानि

अब तो वह खाली ही हाथों मुनिराज के निकट आई। उस समय उसके मन में तेल के टपक जाने से जरा भी उदासी नहीं थी। न तेल बहराने के प्रति कोई घृणा के भाव ही हृदय में जागे थे। उस का इतना नुकसान अवश्य हो गया था, परन्तु उस के कारण उस के एक रोम में भी कोई सल और बल न था। यदि उस समय कोई घृणा के भाव उसके हृदय में जाग रहे थे, तो केवल अपने भाग्य

काया क्लेश का लक्ष्य आत्म-शुद्धि

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती………"

परम शान्ति की अवस्था को प्राप्त करने के लिये मन के परीक्षण द्वारा शुद्ध प्रणिधान के सम्बन्ध मे चिन्तन किया जा रहा है। शुद्ध प्रणिधान जब आत्मा को प्राप्त होता है तो समझिये कि उसने जीवन का सम्पूर्ण सार पा लिया है, किन्तु शुद्ध प्रणिधान की प्राप्ति ही अति कठिन साधनाजन्य होती है। जीवन मे इस शुद्ध प्रणिधान को प्राप्त करने के लिये शरीर को ही माध्यम बनाना पडता है। यह मानव शरीर साधना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन होता है। मानव शरीर जो बाहर से साधारण दिखाई देता है, अपनी सगठन शक्ति एव कर्मण्यता मे अद्भुत होता है। शरीर के भीतरी आवरण का मुख्य अग द्रव्य मन होता है और इसी द्रव्य मन की स्थिति के साथ भाव मन को पकडने का प्रयास किया जाता है। आत्मा की शक्ति भाव रूप मे प्रवाहित होती हुई द्रव्य मन को सचालित करती है और द्रव्य मन के माध्यम से मानव-शरीर को प्रभावित करती है।

जीवन मे आत्मा से लेकर शरीर तक का सारा सम्बन्ध इस प्रकार जुडा रहता है। शारीरिक प्रक्रियाएं भी कई प्रकार से होती हैं, जिनमे बाह्य प्रक्रियाए तो दिखाई देती हैं किन्तु मन के माध्यम से चलने वाली प्रक्रियाए तो भीतर ही भीतर चलती रहती हैं। यह भीतरी दृष्टि से चलने वाली प्रक्रियाए द्रव्य मन की होती हैं, किन्तु भाव मन की शक्ति उससे भी बढकर होती है और इन सब की सचालन शक्ति आत्मा के पास रही हुई है। इन सबका सम्बन्ध मंत्रवत् जुडा रहता है। जैसे बाहर से एक मोटर कार दौडती हुई दिखाई देती है, किन्तु उसका सम्बन्ध पहियो के साथ होता है तो पहियो का सम्बन्ध एजिन के साथ होता है। एजिन का सम्बन्ध ड्राइवर के साथ होता है। यदि ड्राइवर

"देवानुप्रिय ! राजगृह में सुलसा नाम की एक श्राविका रहती है। वह शीलवती और धर्म से प्रगाढ़ प्रेम रखने वाली है। यदि आप वहा जावें तो उस से मिल-भेंट कर धर्म के सम्बन्ध में कोई चर्चा उस से अवश्य करें।"

"प्रभु की आज्ञा सिर-आखों पर है। सन्यासी ने कहा"

सन्यासी के अवतार

सन्यासी को एक प्रकार की लब्धि (सिद्धि) प्राप्त थी। उस से जैसा भी चाहे, वैसा रूप वे बना सकते थे। सन्यासी चलते-चलते राजगृह में पहुचे। जाते ही शहर के एक दरवाजे पर 'ब्रह्मा' का रूप धारण कर के वह बैठ गये। शहर में ब्रह्मदेव के आने की हल-चल मच गई। चारों ओर से लोग भाग-भाग कर उन के दर्शनों को दौड़ने लगे। परन्तु सुलसा ही एक ऐसी महिला थी, जो वहां न गई। उस ने सोचा—'यह ब्रह्मा असली नहीं। फिर कल तक तो इन का कहीं कोई नाम भी नहीं था। आज ही आज तब ये कहा से आगये? जान पड़ता है किसी ने उन का स्वाग-मात्र भरा है।'

दूसरे दिन उन्हीं सन्यासी ने 'विष्णु' का और तीसरे दिन 'महेश' का रूप भरा। सभी नर-नारी दौड़-दौड कर वहा पहुचे, परन्तु सुलसा ने ऊपर के विचार द्वारा उसे धोखा ही समझा। चौथे दिन वे ही सन्यासी 'अर्हन्त महावीर' बन कर बैठे। परन्तु सुलसा एक-मात्र वीर प्रभु की उपासिका हो कर भी वहा न पहुँची। हा! दूसरे अविचारी लोगों ने अवश्य ही उन्हे सर्वज्ञ मान लिया।

सुलसा के विचार

परन्तु सुलसा के विचारों की मथुरा गौकुल से न्यारी ही थी। उस ने सोचा—"महावीर! यहां से इतने फासले पर अभी हैं। कल

में एक तप होता है। यही तप शरीर श्रम के आध्यात्मिक रूप को प्रकाशित करता है।

आप देखते होगे कि जिन सुकुमार व्यक्तियो ने अपने कोमल शरीर को कभी भी किसी प्रकार का कष्ट नही होने दिया होगा और जिन्होने जूते व बूट अपने पैरो मे पहिन कर भी कभी अधिक चलने की कोशिश नही की होगी, उन्हें ही जब आत्म-शुद्धि एव शुद्ध प्रणिधान की लगन लग जाती है और उसके लिये एक तडप पैदा हो जाती है तो वे ससार के सारे सुखो को छोड कर मुनि धर्म अगीकार करते हैं तथा अधनगे बदन और नगे पैरो से हजारो कोसों का परिभ्रमण करते हैं। कटीले और पथरीले मार्गों पर वे गति करते हैं—उनके पैर लहूलुहान हो जाते हैं, फिर भी वे अपने उद्देश्य के प्रति विचलित नहीं होते हैं। साधारण व्यक्ति सोचते होगे कि शुद्ध प्रणिधान के लिये इतना अधिक कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है अथवा आत्म-शुद्धि की साधना राजभवनो का सुख उठाते हुए क्यो नही की जा सकती है ? जान-बूझ कर ऐसा शरीर-कष्ट क्यो मोल लिया जाता है ? एक तो खुले पैरो से पैदल भ्रमण करना, फिर कही पानी मिला या नही मिला तो प्यास का कष्ट सहन करना और भूख, गर्मी, सर्दी की विकटताओ को सहते हुए केश लुंचन का कष्ट भी देखना—ये सब प्रक्रियाए क्यो की जाती हैं ? आत्म-शुद्धि करनी है तो भावो के साथ ही उसकी शुद्धि क्यो नही कर ली जाय ? आत्म-शुद्धि के साथ शरीर कष्ट की इन सारी प्रक्रियाओ का क्या सम्बन्ध है ? ऐसे कई प्रश्न ज्ञान दशा के अभाव मे साधारण व्यक्तियो के सामने उपस्थित हो जाते हैं, जिन पर इन प्रक्रियाओ के आन्तरिक महत्व की दृष्टि से आध्यात्मिक चिन्तन किया जाय, तभी काया-क्लेश का मर्म स्पष्ट हो सकेगा।

काया-क्लेश के तप का महात्म्य :

आत्म-शुद्धि का भार मानव शरीर को ही मुख्य रूप से ओढना पडता है। जब सारी क्रियाए आत्मा के सचालन मे शरीर के माध्यम से होती है तो त्याग और तप की क्रियाए भी शरीर ही के माध्यम से की जायगी। बारह प्रकार के तपों मे पाचवे क्रम पर इसी कारण से काया क्लेश के तप का उल्लेख है, जिसका अभिप्राय यह है कि काया को जो क्लेश या कष्ट देना है, उसका एक मात्र उद्देश्य आत्म-शुद्धि की अवस्था को प्राप्त करना है। काया क्लेश के तप का इसी दृष्टि से अपूर्व महात्म्य माना गया है।

जब ऐश्वर्यपूर्ण कोमलता भरी परिस्थितियो मे रहने वाले व्यक्तियों ने

हैं। तीर्थङ्कर पद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन 'सम्यक्त्व' ही है। इस महासती सुलसा ने सम्यक्त्व ही के बल पर तीर्थङ्कर के नाम कर्म का उपार्जन किया था। वही भविष्य की चौबीसी में पन्द्रहवें तीर्थङ्कर होंगे। यह है सम्यक्त्व का जीता-जागता बल।

सति सुलसा : सम्यक्त्व का संदेश

मा सुलसा! आ और आज की इन भारतीय महिलाओं को उसी परम पावन सम्यक्त्व का सन्देश तू दे जा।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] सुलसा के देव, गुरु और धर्म को बताओ।

[२] सुलसा और उस के पति रथिक के सम्भाषण का वर्णन अपनी भाषा में करो।

[३] किसी देव या भैरव-भवानी और भोपों तथा सयानों के पास आकर पुत्र प्राप्ति के लिए उन की तरह-तरह की मिन्नतें मानने का वास्तविक अर्थ क्या है?

[४] मुनि के वेश में देव ने सुलसा की अग्नि-परीक्षा कैसे ली?

[५] ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अर्हन्त महावीर का स्वाग भरने वाले सन्यासी के प्रति सुलसा की कैसी श्रद्धा थी?

[६] सम्यक्त्व से हमारे जीवन में क्या परिवर्तन हो जाता है?

समकित पाकर नहीं तजे, वो पन्द्रह भव में शिव पाता है।
उत्कृष्ट आराधन जो करले, इस भव से मुक्ति में जाता है॥

— गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म.

हेतु ज्ञानपूर्वक इस शरीर को तपाया जाता है। पाद विहार करने मे जहां जीवों की रक्षा का प्रसंग है तो उसी प्रकार शरीर को कष्ट देकर आत्माभिमुखी वृत्तियो को जागृत बनाने का भी पाद विहार का उतना ही लक्ष्य होता है। इसीलिये पाद विहार काया क्लेश है और तप है। मुनिराज दीक्षा लेकर जो पैदल परिभ्रमण करते हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकारो से तप साधना ही करते हैं। वे ग्रामानुग्राम उग्र विहार करते हैं तो उग्र का यह अर्थ नही कि वे भागते-दौडते हैं। उग्र का अर्थ है कि वे आत्म-रमण की मस्ती के साथ अधिकाधिक परिभ्रमण करते हुए अधिकाधिक जन-सम्पर्क साधकर जन मानस मे से अशुद्धि को निकालने का कठिन प्रयास करते हैं।

मुनियो के लिये पाद-विहार का प्रयोजन यह भी होता है कि वे छोटे से छोटे स्थान पर जाकर भी व्यक्तियो के जीवन मे फैलने वाली अनैतिकता को दूर करने का उपदेश दें। यह काम किसी एक केन्द्र पर बैठ कर नही किया जा सकता है। इस कारण सन्तो के लिये प्रावधान है कि वे चातुर्मास समाप्ति के बाद आठ विहार व एक विहार पुन चातुर्मास मे पहुचने के लिये—इस प्रकार नौ विहार कम से कम करें ही। इस प्रकार नौ-कल्प विहार होना चाहिये। इसका कारण है कि वे अनेकानेक गावो मे स्पर्शना कर सकें, तो यह जो स्पर्शना होती है, वह तप है। कभी-कभी भाई देखते हैं कि महाराज बडा कष्ट उठा रहे हैं तो यह सही नही है। अगर इसको कष्ट समझा जायगा तो फिर विहार ही नही करेंगे। आत्म-शुद्धि एव शुद्ध प्रणिधान को पाने के लिये मुनियों द्वारा देखा जाने वाला यह कष्ट सही तौर पर कष्ट की परिभाषा मे नही आता है, बल्कि काया क्लेश तप की परिभाषा मे आता है।

यह याद रखिये कि शरीर के प्रत्येक परमाणु स्कन्ध के साथ आत्म-प्रदेश हैं और सभी प्रदेशो को उज्ज्वल बनाकर शुद्ध प्रणिधान प्राप्त करना है तो उस भावना के साथ शरीर के कष्ट को कष्ट नही समझा जाना चाहिये। इस शरीर कष्ट को आत्म-शुद्धि का साधन मानकर चलना चाहिये। पैदल चलते-चलते ऊबड-खाबड जमीन आती है और उस पर चलना मन को पसन्द नही होता है क्योकि शरीर तो गादी तकियो का आराम चाहता है। किन्तु ये सब अशुद्ध प्रणिधान की आदतें शरीर कष्ट के बिना छूटती नही है। सिर पर से केशो का लोच करते समय मन को बडा अटपटा लगता है, लेकिन आत्मा को निखारने की जिज्ञासा वाला साधक उस क्रिया मे शुद्ध प्रणिधान का

योग्य मन्त्री के समान उचित सलाह देती। (२) उस की सेवा करते समय वह दासी बन जाती। (३) अपने पतिदेव को भोजन कराने में एक सु-माता के भावों को वह अपने में ले आती थी। (४) वही शयन के समय उस के लिए रम्भा बन जाती। (५) धर्म कार्यों में वह सदा अपने पति के अनुकूल रहती। (६) क्षमा में सचमुच में वह पृथ्वी के समान ही सहनशील थी।

बस। यही कारण था, कि समय-समय पर अपने पतिदेव को वह जीती-जागती शक्ति का रूप धारण कर अनेकों प्रकार के दुर्व्यसनों और पाप-पंकज में फसने से तत्काल ही बचा लिया करती थी।

पत्नीधर्म का कर्तव्य

पतिव्रता नारियों का कर्तव्य और धर्म भी तो यही है, कि जब-जब उन के पतिदेव किसी पाप-पक अथवा दुराचरण में फंसने को उतारू हो जावें, वे तत्काल ही अपने अनुपम गुणों के बल से उन्हें हटक कर रोक रक्खें। कदाचित् वह समझें, वैसा करने में उन के पतिव्रत-धर्म को आघात पहुँचता है। नहीं कदापि नहीं। हां। ऐसा नहीं करने में तो अवश्य ही उन का पतिव्रत-धर्म कलंकित होगा। उदाहरणार्थ-मानों किसी का पति शराबी है, तो उसे उस लत से छुडाना तो अवश्य ही उस की पतिव्रता नारी का धर्म है, परन्तु ऐसा न करते हुए स्वयं को भी उस लत में फंस मरना तो घोर पाप ही है। इसी तरह यदि पति वेश्यागामी अथवा पर-दारा रत है, तो अपने सदाचार-युक्त सतत्-प्रयास से उसे उस से मुक्त करना, उस की पतिव्रता नारी का धर्म है। किन्तु यह तो किसी भी प्रकार धर्म और न्याय-संगत नहीं कि उस के साथ-साथ वह स्वयं भी कुलटा बन जावे या दलाल बन कर अपने पतिदेव और उस के वंश का तहस-

और उस समय पैरों से खून की धाराएं भी निकलें तब भी उसका यही अनुसन्धान चलना चाहिये कि वह काया क्लेश तप का आराधन कर रहा है। शरीर मोह के साथ जुडी हुई मूर्च्छित आत्मा की शक्तियो को जागृत बनाने की यह भव्य साधना होती है।

आत्म-शक्ति की स्वतन्त्रता का यह काया क्लेश तप अनुपम साधन है। साधक यह विचार करे कि मैं जो शरीर को कष्ट दे रहा हूं, वह आत्मा को आनन्द देने वाला है। सर्दी और गर्मी के अनुभव तथा केश लुंचन की पीडा से शरीर का मोह छूटेगा और शरीर का मोह जब छूट जायगा, तभी आत्म-स्वरूप के सत्य-दर्शन हो सकेंगे। शरीर-मोह छूटने से आत्मा की शक्तियां उस परतन्त्रता से मुक्त बनेंगी और स्वतन्त्र होकर आत्म-विकास के मार्ग पर कार्य रत होगी। तब मन और इन्द्रिया प्रणिधान की अशुद्धता से निकल कर शुद्धता की दिशा मे गति करेंगे। जब तक बाह्य शरीर के रूप पर ममता बनी रहती है तो सारी शक्तिया भी उसके बाह्य रूप को ही सजाने सवारने और विकारो मे ले जाने का कार्य करती हैं, उस समय आत्म-स्वरूप का भान नही रहता है। एक दिशा से हटा कर ही किसी को दूसरी दिशा मे ले जा सकते हैं। इसी प्रकार आत्मिक शक्तियो को शरीर मोह की दिशा मे से हटावेंगे, तभी उन्हें आत्म-शुद्धि की दिशा मे मोड सकेंगे। यही दृष्टि बिन्दु है कि काया क्लेश के तपाराधन से आत्मा की समस्त शक्तियो को शरीर मोह से स्वतन्त्र बनाई जा सके और उन्हे आत्म-शुद्धि एव शुद्ध प्रणिधान की उपलब्धि हेतु नियोजित किया जा सके। आत्मिक शक्तियां जब उन्मुक्त होकर स्वहित एवं लोकहित के कार्यों मे नियोजित होती हैं तो उसके परिणाम निश्चय ही आश्चर्य-जनक होते हैं क्योकि आत्मबल के समक्ष शरीर बल की कोई तुलना ही नहीं होती है।

शरीर-कष्ट परीक्षा के तुल्य :

आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से काया क्लेश तप के जरिये शरीर के जिन कष्टो को सहन करने का निर्देश है, उन्हें परीक्षा के तुल्य माना जाना चाहिये। कष्ट सहन के समय कितनी शान्ति और समभावना रहती है—यही मापदण्ड होता है कि कोई काया क्लेश के तप मे कितनी उत्कृष्ट स्थिति तक पहुचा है। इस कारण ये शरीर कष्ट एक प्रकार से परीक्षा के तुल्य हैं जो व्यक्ति के विकास के परिचायक होते हैं। सभी जानते हैं कि परीक्षा के क्षण तीक्ष्ण होते हैं। विद्यालय मे छात्रो की परीक्षा के दिन आते हैं तो वे किस मेहनत

साथ ही-साथ रहता था। और तो और राजा अपने साथ उसे रनिवास तक में निःशंक हो कर ले जाता था। अपने पतिदेव की इतनी गहरी कृपा उस पर देख शिवादेवी का भी उस से पर्याप्त परिचय हो गया था। परन्तु मन्द बुद्धि मन्त्री ने इस प्रेम-पूर्ण परिचय का कुछ और ही अर्थ निकाला। इसे हम उस की कुलीनता का दोष कह सकते हैं। मन्त्री, रानी के अनुपम रूप-सौंदर्य को देख-देख मन ही मन अधीर हो उठता। वह किसी भी तरह उस के प्यारों से भी प्यारे शील-धर्म को खण्डित करना चाहता था।

महामन्त्री के प्रयास

एक दिन उस का मन मचल पड़ा और वह रानी को हथिया लेने का षडयन्त्र रचने लगा। अब वह राजा को अनेकों प्रकार के ऐसे कामों मे फसा देने लगा जिस से वह सप्ताहों तक रनिवास में पहुच नहीं पाता। इसी अवधि में मन्त्री ने शिवादेवी की मुख्य दासियों को फोड कर अपनी ओर मिला लिया और धीरे-धीरे उन्हीं के द्वारा वह रानी को अपना प्रेम-भाजन बना लेने का अपने बल भर प्रयत्न करने-कराने लगा। परन्तु शिवादेवी का शील-व्रत कोई ऐसा-वैसा तो था नहीं, जो फूंक देने से उड जाता। वह तो हिमाचल के समान अचल और सागर के समान गम्भीर था। तब मन्त्री की तर्जन-गर्जन और भांति-भांति के भुलावा रूपी फूंक से वह उड भी तो कैसे सकता था? मन्त्री के सारे सिर तोड़ परिश्रम पूर्वक प्रयत्न आकाश में किले बांधने के समान बेकार हो गये।

भूदेव का अनुचित कृत्य

एक दिन राजा किसी से मिलने को अपनी राजधानी को छोड बाहर गया। मन्त्री ने अपने मनसूबे को फूलने-फलने का इसे बड़ा

और उस समय पैरों से खून की धाराएं भी निकलें तब भी उसका यही अनुसन्धान चलना चाहिये कि वह काया क्लेश तप का आराधन कर रहा है। शरीर मोह के साथ जुडी हुई मूर्च्छित आत्मा की शक्तियो को जागृत बनाने की यह भव्य साधना होती है।

आत्म-शक्ति की स्वतन्त्रता का यह काया क्लेश तप अनुपम साधन है। साधक यह विचार करे कि मैं जो शरीर को कष्ट दे रहा हूं, वह आत्मा को आनन्द देने वाला है। सर्दी और गर्मी के अनुभव तथा केश लुंचन की पीडा से शरीर का मोह छूटेगा और शरीर का मोह जब छूट जायगा, तभी आत्म-स्वरूप के सत्य-दर्शन हो सकेंगे। शरीर-मोह छूटने से आत्मा की शक्तियां उस परतन्त्रता से मुक्त बनेंगी और स्वतन्त्र होकर आत्म-विकास के मार्ग पर कार्य रत होगी। तब मन और इन्द्रियां प्रणिधान की अशुद्धता से निकल कर शुद्धता की दिशा मे गति करेंगे। जब तक बाह्य शरीर के रूप पर ममता बनी रहती है तो सारी शक्तियां भी उसके बाह्य रूप को ही सजाने संवारने और विकारो मे ले जाने का कार्य करती हैं, उस समय आत्म-स्वरूप का भान नही रहता है। एक दिशा से हटा कर ही किसी को दूसरी दिशा मे ले जा सकते हैं। इसी प्रकार आत्मिक शक्तियो को शरीर मोह की दिशा मे से हटावेंगे, तभी उन्हें आत्म-शुद्धि की दिशा मे मोड सकेंगे। यही दृष्टि बिन्दु है कि काया क्लेश के तपाराधन से आत्मा की समस्त शक्तियो को शरीर मोह से स्वतन्त्र बनाई जा सके और उन्हे आत्म-शुद्धि एव शुद्ध प्रणिधान की उपलब्धि हेतु नियोजित किया जा सके। आत्मिक शक्तियां जब उन्मुक्त होकर स्वहित एवं लोकहित के कार्यों मे नियोजित होनी हैं तो उसके परिणाम निश्चय ही आश्चर्य-जनक होते हैं क्योकि आत्मबल के समक्ष शरीर बल की कोई तुलना ही नही होती है।

शरीर-कष्ट परीक्षा के तुल्य :

आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से काया क्लेश तप के जरिये शरीर के जिन कष्टो को सहन करने का निर्देश है, उन्हें परीक्षा के तुल्य माना जाना चाहिये। कष्ट सहन के समय कितनी शान्ति और समभावना रहती है—यही मापदण्ड होता है कि कोई काया क्लेश के तप मे कितनी उत्कृष्ट स्थिति तक पहुचा है। इस कारण ये शरीर कष्ट एक प्रकार से परीक्षा के तुल्य हैं जो व्यक्ति के विकास के परिचायक होते हैं। सभी जानते हैं कि परीक्षा के क्षण तीक्ष्ण हैं। विद्यालय मे छात्रो की परीक्षा के दिन आते हैं तो वे किस मेहनत

जूते पड़े हों। वह मिटपिटा कर यहा से चलते ही बना। घर पहुचते ही मन्त्री का मन उसे कोसने और नोचने-खसोटने लगा। उस का खाना, पीना, सोना और बैठना सब के सब हराम हो गये। अब उसे यदि कोई चिन्ता थी, तो यही कि राजा के आने पर रानी के द्वारा जब उस के पाप का भडा फूटेगा। उस घडी, उस की क्या दुर्दशा होगी ? केवल इसी चिन्ता ही चिन्ता में वह बीमार पड गया।

महामंत्री भूदेव आश्वस्त हुआ

राजा ने आते ही मन्त्री को बुलवा भेजा। पापी का मन पहले से ही बालू की दीवार के समान होता है। उस का मन अब रह-रह कर उसे खाने लगा। परन्तु पतझड के बाद जैसे बसन्त आता है, ठीक वैसे ही अन्धकार में भी आशा की एक झलक दिखाई दे ही जाती है। इसी नाते बीमारी के कारण हलन-चलन की असमर्थता प्रकट करते हुए राजा के सामने उपस्थित न हो सकने की अपनी विवशता उस ने दिखाई। पर राजा को उस के बिना चैन कहा था ? वह स्वय शिवादेवी के साथ उस के घर पहुचा और बीमारी का हाल पूछने के पश्चात् वे दोनों के दोनों उस की सेवा-शुश्रूषा मे लग पडे। अब तो उस का पाप उसे और भी खाने लगा। उन दोनों की परिचर्या से उसे यह प्रत्यक्ष हो गया, कि रानी ने राजा के सामने उस के पाप की पोल नहीं खोली है तथा उन दोनों का बर्ताव भी उस के साथ, पहले ही जैसा है।

भूदेव का मानसिक-प्रायश्चित

तब वो अपने काले कारनामो पर मन ही मन पछताने और कहने लगा—

"हा हन्त ! शिवादेवी जैसी सती-साध्वी के शील को दूषित

चाहिये। वही मजदूर यदि सम्यक् ज्ञानी है तथा उदरपूर्ति से ऊपर श्रद्धा के साथ आत्म-शुद्धि के लक्ष्य को अपनाता है तथा उस लक्ष्य से शरीर कष्ट देखता है तो वह तप की कोटि मे आ जायगा। हा, उसके शरीर कष्ट मे तप का भाग उतना ही होगा, जितना वह आत्म-शुद्धि के प्रयास से सम्बन्धित होगा। यदि लक्ष्य भौतिक है और शरीर कष्ट उस लक्ष्य की पूर्ति के लिये है तो वह काया क्लेश का तप नही है।

काया क्लेश आत्माभिमुखी हो :

इस दृष्टि से काया क्लेश तप की कसौटी यह होगी कि वह शरीर-कष्ट आत्माभिमुखी होना चाहिये। सोचिये कि कोई जेल मे जाता है, वहाँ उसे नाना प्रकार की यत्रणाए मिलती है—चाबुक भी लगते है और कभी-कभी बिजली का करेन्ट तक दिया जाता है तो उसमे उसे कितना कठोर शरीर कष्ट सहना पडता है? कई बार ऐसा शरीर कष्ट साधु के केश लुंचन के कष्ट से भी कठोरतर हो जाता है, किन्तु उस शरीर कष्ट का मूल्याकन उसकी अन्त-करण की भावना एव उसके ज्ञान व विवेक के आधार पर ही किया जा सकता है। वैसे तो एक कैदी ऐसा सारा कष्ट-सहन अज्ञानपूर्वक करता है, अत वह निरर्थक होता है। किन्तु यदि वह ज्ञानपूर्वक सही धरातल पर खडा हो तथा आत्माभिमुखी बन कर उन कष्टों को समभाव से सहन करे तो उनका मूल्य भी तप के तुल्य होने लगता है।

बाहर से भोगा जाने वाला शरीर कष्ट सार्थक तब बनता है जब उसका सूत्र आन्तरिकता से जुडा हुआ हो और वह सूत्र आत्माभिमुखी हो। एक व्यापारी दुकान पर बैठ कर तप भी कर रहा हो, तब भी वह यही सोचता है कि दुकान पर तप कैसे हो सकता है? परन्तु यदि उसमे विवेक हो तो वह दुकान पर बैठ कर तथा व्यापार करता हुआ भी काया क्लेश का तप कर सकता है या उसका कुछ भाग ला सकता है। सोचने की बात है कि यह कैसे हो सकता है? व्यापार करते हुए भी यदि उसकी अन्तर्भावना यह रहे कि व्यापार ही उसके लिये सब कुछ नही है। निर्वाह के लिये यह साधन है किन्तु आत्म-शुद्धि का लक्ष्य सर्वोपरि है तथा उसके लिये व्यापार मे किसी भी प्रकार की अनैतिकता नही की जानी चाहिये। ऐसी भावना के साथ एक ओर उसका व्यापार नैतिक बनेगा तो मूल मे आत्म-शुद्धि का कार्य भी सफल होगा। तो उसके श्रम एव शरीर कष्ट मे जो आत्म शुद्धि का भाग है, वह काया क्लेश का तप ही कहलावेगा। आवश्यक यह है कि व्यापार मे भी उसकी

मे उन सभी प्रकार के कामान्ध पुरुषों को चितौनी देते रहते हैं कि इस ओर कुभावना से कोई भूल कर भी न देखें और न आवें। नहीं तो, वे इधर कदम रखते ही डूब मरेंगे। क्योंकि—

"पर नारी पैनी छुरी, तीन ठौर तें खाय।
धन छीजे, जोबन हरे, मुए नरक ले जाय॥"

रानी के इस कथन का मन्त्री के रोम-रोम ने हृदय से समर्थन किया। उस की कुभावनाएं तब तो उसी क्षण उस के दिल की दराज से नौ-दो-ग्यारह हो गई। अब शिवादेवी उस की आंखों में एक बहिन मात्र रह गई। फिर उस के शरीर में कोई रोग रहता ही क्यों? रोग तो सारा भय ही का था। भय के भागते ही उस के पैर उछल पड़े। उसी क्षण वह निरोग हो गया। राजा और रानी दोनों राज महलों को लौट पड़े।

शिवा की सतीत्व-शक्ति

सच है, एक शीलवती माता क्या नहीं कर सकती? वह चाहे तो अपने शील के प्रबल बल-विक्रम से ससार की हस्ती को बात की बात में मिटा सकती है। समुद्रों को पल भर में बांध सकती है और पर्वतों को राई-राई कर सकती है। उस की आज्ञा सूरज के सिर और आखों पर रहती है। देवता लोग उस के इशारों पर नाचते हैं। शिवा का शीलधर्म इतना प्रबल था कि किसी मनुष्य को कभी कोई साप काट खाता तो शिवा के हाथ का स्पर्श मात्र उस के लिये गारुड़ी-मन्त्र और स्वय गरुड़ बन जाता था। वह धधकती हुई आग के अंगारे को हंसते-हंसते अपने हाथ में उठा लेती और वह अंगारे उस के लिये चन्दन से भी अधिक शीतल बन जाते थे।

सादर वन्दे!

धर्म जीवन का एक अंग नहीं, सर्वांग बनना चाहिये । धर्म-क्रिया अथवा धर्म-स्थान में धर्म का ध्यान रखें तथा बाकी संसार कार्यों मे धर्म को कोई महत्व न दें तो इससे बढ कर धर्म का उपहास दूसरा नहीं हो सकता है । आप यह क्यों नही सोचते कि धर्म-स्थान मे मैं हूं तो वहां भी शुद्धता से धर्म-क्रिया करूं किन्तु जब गृहस्थ के कार्यों मे लगूं तब वहा भी विवेक तथा आत्माभिमुखी वृत्ति रखूं । वह भी धर्म का ही कार्य होगा । अगर प्रत्येक कार्य मे गृहस्थ विवेक रखता है तो सारी काया क्लेश की क्रियाएं उतने अशों मे उधर मुड़ कर धर्म का रूप ही धारण करेंगी ।

दृष्टि के साथ सृष्टि बदलती है :

लोग कहते हैं कि हमसे उपवास नही हो सकता है—दूसरा तप भी नही होता है तो मैं उनसे कहता हूं कि आपसे यह सब नहीं होता तो उसे मत करिये, किन्तु जो कर सकते हैं, उसे भी करने मे पीछे क्यो रहते हैं ? आप अपने घरेलू कार्यों की पद्धति मे तो परिवर्तन ला सकते हैं तो विवेक के साथ उस हेतु अपनी दृष्टि को बदल दीजिये और फिर देखिये कि दृष्टि के बदलने के साथ सृष्टि कैसी बदल जाती है ? फ़िर उसी शरीर कष्ट के सहने मे काया क्लेश तप का अश आने लगेगा । दृष्टि की सृष्टि बदली तो समझिये कि समग्र जीवन का क्रम ही बदलने लगेगा और जीवन की सारी प्रक्रियाए आत्म-शुद्धि के लक्ष्य मे केन्द्रित होकर व्यवस्थित रूप से चलने लगेंगी । उन प्रक्रियाओ में कष्ट तो होगा परन्तु सहने जैसा अनुभव नहीं होगा । उस कष्ट मे आत्मा के मंजने की झलक दिखाई देगी और जब ऐसी अनुभूति होने लगेगी तो यह निश्चित मानिये कि वहा काया क्लेश का तप सार्थक बन गया है ।

जीवन क्रम में परिवर्तन लावें :

साधु जीवन मे तो काया क्लेश तप की सर्वत्र आराधना करनी ही पड़ती है किन्तु उस आराधना मे भी अधिक से अधिक वास्तविकता आनी चाहिये तथा शरीर कष्ट को आत्म-शुद्धि एव आत्म-जागृति का एक सबल माध्यम मानकर चलना चाहिये । किन्तु यदि गृहस्थ अपने जीवन क्रम मे परि-वर्तन लावें तथा इस तप की महत्ता को ग्रहण करें तो संसार के वायुमण्डल में फैली विषमता की जडो को नष्ट कर सकते हैं । जब शरीर श्रम स्वयं के स्वार्थ के लिये नही, सामूहिक हित एव कल्याण के लिये लगेगा तो उसका रूप निश्चित ही नैतिक और पवित्र होगा । वैसा शरीर श्रम ही शरीर कष्ट होता

भगवान् महावीर के समय में महाराज चेटक विशाला नगरी के अधिपति थे। उन के सात पुत्रियां थीं। उन में से एक नाम था 'त्रिशला' जो सिद्धार्थ को विवाही गई थीं। दूसरी राजकुमारी का नाम 'पद्मावती' था। पदमावती का विवाह बिहार प्रान्त के 'चम्पापुरी' नरेश 'महाराजा दधिवाहन' के साथ हुआ था।

पदमावती अपने समय की महिलाओं में क्या नैतिक और क्या धार्मिक, सभी कार्यों में बड़ी ही चढ़ी-बढ़ी थी। स्त्रियोचित कलाओं में तो वह इतनी निपुण थी कि वह 'कार्येषु मन्त्री' की उक्ति को सोलह आना सफल करती थी।

एक दिन पदमावती ने रात के पिछले प्रहर में एक शुभ स्वप्न देखा और जिस का फल अपनी कोख से एक पुत्र-रत्न के प्रसव का उस ने समझा। कुछ ही दिन बीते होंगे कि उस ने अपने गर्भवती होने का अनुभव होगया। गर्भवती होने के तीन महीने बाद उसे अच्छे-अच्छे दोहले उत्पन्न होने लगे।

पुण्यवान की पहचान

ऐसे तो स्वप्न तथा दोहले उन दिनों (गर्भावस्था में) सभी स्त्रियों को आते हैं। परन्तु वे स्मरण रहें या न रहें यह बात निराली है।

प्रतिसंलीनता तप की आराधना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती........"

शान्ति स्वरूप की प्राप्ति विषयक अनुसन्धान में जिस महत्वपूर्ण प्रश्न का प्रसंग चल रहा है, उसी महत्वपूर्ण तत्त्व को अन्तकरण की शक्ति से यदि सवार लिया गया—उसको पवित्र बना लिया गया तो जीवन का सम्पूर्ण सार इस आत्मा को उपलब्ध हो जायगा। यही सार शुद्ध प्रणिधान है, जिसे प्राप्त करने के लिये शास्त्रकारो ने कई प्रकार के विधि–विधान निर्धारित किये हैं। इन सब विधि–विधानो का लक्ष्य यह है कि जीवन की सारी वृत्तिया और प्रवृत्तिग्रा अन्यान्य स्थानो से हट कर ग्रात्म–शुद्धि मे केन्द्रस्थ बनें और आत्मिक शक्ति बलवती होकर तेजस्वी स्वरूप धारण कर ले।

आत्मा जितनी बलवान बनेगी, उतनी ही वह शुद्ध प्रणिधान की स्थिति को अपने नियमित नियन्त्रण मे रख सकेगी। विधि–विधानों के पालन से आत्मा का बल बढना है और यही बल जब अति सुदृढ हो जाता है तो वह किसी भी बाहरी आघात या सघर्ष से टूटता नहीं, बल्कि उन आघातो और सघर्षों को ही समाप्त करके अधिकाधिक देदीप्यमान बनता जाता है। इसी बलवृद्धि के आध र पर आत्मा अपने मूल स्वरूप मे स्थिरीभूत रह सकती है। जब तक आन्तरिक शक्ति प्रकट नही होती है बाहरी दृश्यो से प्रभावित होकर आत्मा डगमगाती रहती है। ये भौतिक प्रलोभन आत्मा को पग–पग पर चल–विचल बनाते हुए अपने मूल स्थान से नीचे की ओर घसीटते रहते हैं।

भौतिक पदार्थ स्वय चेतन नही होते, जो आत्मा को चंचल बनावें। वे तो जड होते हैं और यह नही जानते कि वे अपने आप किसी को चचल बना रहे हो। पदार्थ तो अपने स्वभाव मे रहते हैं, परन्तु उन पदार्थों मे आत्मा को चचल बनाने की जो शक्ति आती है, वह भी आत्मा ही के सम्पर्क

अपने पतिदेव के सम्मुख प्रकट न कर सकी। अपने इस विचार के पूर्ण न होने के कारण वह भीतर ही भीतर कसमसाती थी। उस कसमसाहट का परिणाम उस के शरीर पर गिरा और वह प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। पद्मावती के शरीर को कृश होते देख राजा को बडी चिन्ता हुई। परन्तु छानबीन करने पर जब उसे उस के कारण का पता लगा, उसी समय उस ने रानी की भावना को अपने बल भर पूरा करने का प्रयत्न किया।

हाथी बिगड गया

एक दिन राजा ने हाथी की सवारी की। रानी ने भी अपनी इच्छानुसार वेश धारण कर के अपने पति का साथ दिया। थोडी सी शरीर-रक्षक सेना भी उन्हों ने उस समय अपने साथ ले ली। अभी-अभी पडोस के जंगल में वे जा करके पहुँचे ही थे, कि इतने ही में हवा बडे जोरों की चली। उस के कारण हाथी मचल कर भाग निकला।

राजा की सलाह

भागते-भागते ज्यों ही एक विशाल वट वृक्ष के नीचे से हो कर वह गुजरने वाला था, कि इतने ही में राजा ने रानी से कहा—

"अपने उस पेड़ के नीचे पहुँचते ही उस की शाखाओं से लटक रहेंगे और हाथी को निकल जाने देंगे।"

होनहार कुछ और है!

रानी ने राजा के वचन का अनुमोदन किया। परन्तु गर्भवती होने के कारण वह उस समय अपने शरीर भार को ठीक-ठीक न सम्भाल सकी। परिणाम यह हुआ, कि राजा तो शाखाओं से लटक

भी जागृत बनाने में प्रभावित करती है। सच्ची जागृति उसे ही कहेंगे कि उसके बाद इन्द्रियो के विषय आत्मा को प्रलुब्ध और अपने स्वरूप से विचलित नही बना सकते हैं। इस जागृति से आत्मा को ऐसा सम्बल मिल जाता है कि वह अपनी सही स्थिति मे सुदृढ हो जाती है। वैसी स्थिति में वह अपने पास मे रहने वाले और प्रभावित होने वाले कर्म वर्गणा को तटस्थ दृष्टि से देखने लग जाती है। तब वे कर्म वर्गणा के पुद्गल उस जागृत आत्मा को प्रभावित नही कर पाते हैं, तब आत्मा की स्थिति तटस्थ दृष्टा की सी हो जाती है।

यह चैतन्य शक्ति ही आत्म-विस्मृत बन कर स्वयं ही कर्म-बन्धन का कारण बनती है तो यही अपनी जागृति से उन्ही कर्म-बन्धनो को टूक-टूक कर देती है। एक दिन अपनी परम तेजस्विता से कर्म-बन्धनो से सम्पूर्णतः मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

वैज्ञानिक का सा निरीक्षण व परीक्षण :

जागृत आत्मा एक वैज्ञानिक की तरह निरीक्षण एवं परीक्षण की प्रक्रियाओ मे तटस्थ दृष्टा बन जाती है। विज्ञान के किसी नये आविष्कार करने की जिज्ञासा रखने वाला वैज्ञानिक पहले प्रयोग करता है—एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ में मिलाता है और निरीक्षण करता है कि उस मिश्रण का दोनों पदार्थों पर कैसा प्रभाव पडा ? वह फिर परीक्षण का परिणाम निकालता है कि अमुक मात्रा मे मिश्रण करने से अमुक प्रकार का प्रभाव होता है। इस परिणाम के आधार पर ही वैज्ञानिक पदार्थों की पारस्परिक प्रभावशीलता का अध्ययन करता है और उससे नये आविष्कारो की खोज करता है। यह ध्यान रखने की बात है कि पदार्थों की पारस्परिक प्रभावशीलता मे वह वैज्ञानिक अपना भान नही भूलता है—स्वय तटस्थ दृष्टा रह कर पदार्थों के विभिन्न मिश्रणो के परिणामों को तोलता है।

वैज्ञानिक जब एक रासायनिक पदार्थ मे उससे विपरीत स्वभावी विष या रसायन को मिलाता है तो उसमे उबलने, जलने या नष्ट होने की स्थिति भी सामने आती है। वैज्ञानिक इस दृष्य को शान्त एव तटस्थ भाव से देखता है, किन्तु उस उबाल या जलन मे स्वयं नष्ट नहीं हो जाता। वह तो उस निरीक्षण एव परीक्षण से अपने बचाव का ही उपाय खोजता है। वैज्ञानिक की सी निरीक्षण एव परीक्षण की वृत्ति यदि जागृत आत्मा भी ग्रहण कर ले तो वैसी जागृत आत्मा पाप के कीचड मे खडी होकर भी कमल के

सुने री ! मैंने निर्बल के बल राम।
अप-बल, तप-बल और बाहु-बल, चौथो है बल दाम।
'सूर' किशोर-कृपा से सब बल, हारे को हरि-नाम ॥

आश्रम में

उस निर्जन-वन में यूं अकेली विचरते-विचरते वह एक तापस के आश्रम में जा पहुंची। आश्रमवासियों ने उसे एक कुलीन महिला जान कर बड़ी ही सभ्यता पूर्वक उसे आश्रय दिया। ज्यों-त्यों करके चातुर्मास के समय को फल-मूल के आधार पर रह कर उस ने वहां गुजारा। तब वह वहां से चल निकली और तापस के द्वारा बताये हुए मार्ग का वह अनुसरण कर ने लगी। परन्तु उस के संकट सम्पन्न समय का अभी अन्त निकट नहीं आया था।

वन-प्रदेश में

अब उस मार्ग पर चलते-चलते वह और भी बीहड़ वन-प्रदेश में पहुंच गई। वहां शेरों की दहाड़ उसे सुनाई देने लगी। कई प्रकार के अन्य वनैले जीव-जन्तु भी उसे वहां इधर-उधर दीख पड़ने लगे। वहां के उस वातावरण को देख उस ने अपने जीवन को मौत के चंगुल में फंसा हुआ देखा।

रानी पद्मावती की आत्मालोचना

तब तो उस ने सागारी सन्थारा (समाधि) ले लिया और अपने पूर्व-कृत पापों की वह इस प्रकार आलोचना-समालोचना करने लगी-

"मैंने पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा तथा वनस्पति आदि के जीवों की निष्कारण से कभी कोई हिंसा की हो और ऐसा कर के मैं प्रसन्न हुई होऊं, तो ऐसा कर के मैंने अति ही बुरा किया है। उन सम्पूर्ण जीवों के प्रति मैंने अति ही ही बुरा किया है। उन सम्पूर्ण जीवों से

रानी बोली,—

"खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरमज्झ न केणई॥"

यूं वह अपने कर्मों की आलोचना और समालोचना करके रात में उसी निर्जन और बीहड़ वन-प्रदेश में सो रही।

पुत्र-जन्म का आनंद एवं मन की विचार-तरंगें

उसी रात में उस सुनसान वन की भूमि में उस ने एक पुत्र को प्रसव किया। उस क्षण एक ओर उस के मन मानस में आनन्द का समुद्र उमड़ उठा था, तो दूसरी ओर उसी में प्राचीन काल की अपनी वैभव-सम्पन्न दशा की स्मृतियों के जागृत हो आने और राजधानी में राजकुमार के उत्पन्न होने पर वहां कितनी खुशियां और कैसी-कैसी रंग-रेलियां मचाई गई होतीं? उस दिन तोपों की गटगड़ाहट के कारण कान बहरे हो जाते, बाजों की गगन-भेदी-ध्वनि होती, भांति-भांति की बधाइयां आई होती। पर हाय! आज तो एक फूटी थाली भी न बज पाई। आदि-आदि बातों की स्मृति हो आने के कारण कायरता, चिंता, निराशा और कसमसाहट के काले बादल भी अपना घोर गर्जन कर रहे थे। पर बेचारी असहाया और दीन-हीन अबला सिवाय रोने-बिसूरने के उस समय और करती ही क्या? उठ कर बैठी और बालक के गले में महाराजा दधिवाहन की दी हुई मुद्रिका बांध दी। तदनन्तर बालक को वस्त्र में लपेट कर वहीं रख दिया और आप अपने शरीर को साफ करने के लिए पड़ोस के जलाशय के पास पहुंची।

नवजात शिशु : भंगी के घर में

उसी बीच फिरता फिराता एक मेहतर उधर आ निकला। अकं

दुनिया के जब आसू में, भगवान् स्नान कर लेते।
तब करुण लोचनों से लख, उस का सब दुख हर लेते ॥५॥
नयनों की नव-गंगा में, जब आसूं बन कर हरि आते।
दिल के पिघले पानी में, वे अपनी चमक दिखाते ॥६॥

रानी की दीक्षा और पुत्र का पता

बस ! इसी नाते पद्मावती के जीवन में एक अपूर्व चमक आने वाली थी। यही कारण था कि उस पर दुख पर दुख आ कर टूटे। रानी उदास हो कर वहां से चल निकली। चलते-चलते वह साध्वियों के पास आई और प्रसन्नता पूर्वक दीक्षित हो गई। परन्तु उस बालक की टोह तो वह सदा करती ही रही।

'जिन खोजा–तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।'

इस नाते अन्त में उसे पता भी लग गया कि अमुक मेहतर के यहां वह बालक है।

करकण्डु का बचपन

बालक ज्यूं ही सयाना अब हो गया था, कि उसी समय से वह बड़ा काम करने लगा। जिस काम करने वाली प्रकृति के खून से इस के शरीर की रचना हुई थी, वह एक राजा की सन्तान थी। तब तो अपनी उम्र के बालकों को इकट्ठा कर के एक टोली बनाता। उस टोली का वह स्वयं तो 'राजा' बन जाता। शेष में से किसी को वह मन्त्री, किसी को सेनापति, एक को कोषाध्यक्ष, दूसरे को मजिस्ट्रेट और किसी को शहर कोतवाल के ऊंचे-ऊंचे पदों के लिये चुनता। शेष बचे हुए बालकों को वह अपनी प्रजा बना कर हर प्रकार से इन का मनोरञ्जन वह करता।

इतना ही नहीं, अपने कल्पित शासन-सम्बन्धी कामों की

बनानी है और इस काम मे जो प्रतिकूल पदार्थ हैं, उनकी तरफ अपने मन और इन्द्रियो को बढने से रोकूं । रस परित्याग के तप से रसना पर नियन्त्रण किया जाता है तो प्रतिसलीनता के तप से सभी इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखने का अभ्यास करना होता है । यह तप भी खाते-पीते किया जा सकता है क्योकि मन को ऐसा मोड देने का कार्य इस तप की आराधना से करना होता है कि प्रत्येक क्रिया आत्माभिमुखी बन जाय । यह तप साधु जीवन के लिये तो है ही, परन्तु गृहस्थ भी अपने जीवन मे इस तप को अपनी भावनाओं मे समुचित परिवर्तन लाकर साकार रूप दे सकता है ।

भावनाओं में परिवर्तन का सूत्र :

प्रतिसलीनता का तप मन और इन्द्रियो की स्वच्छन्दता पर अंकुश लगाता हुआ भावनाओ को शरीर मोह से आत्म-जागृति की दिशा मे आगे बढ़ाता है और इस प्रकार भावनाओ मे नये उद्बोधक परिवर्तन का सूत्र पैदा करता है । आप चिन्तन कीजिये, भडोपकरण की दृष्टि से इन्सान जहा शरीर पर धारण करने के लिये वस्त्रो की आवश्यकता महसूस करता है, किन्तु इस आवश्यकता की पूर्ति के दो रास्ते हो सकते हैं । एक तो बहुमूल्य और चमचमाते वस्त्र धारण किये जाय और उस वेशभूषा से अपने को गर्वित बनाया जाय । दूसरे; शरीर की लज्जा ढकने के निमित्त से सादे खादी के वस्त्रों को धारण किया जाय । पहले रास्ते मे प्रतिसलीनता के तप का अभाव है तो दूसरा रास्ता इस तप का रास्ता है ।

मूल रूप से वस्त्र धारण का प्रयोजन यह होता है कि शरीर की लज्जा ढकी जाय, क्योकि शरीर की नग्नता से विकारी भाव उपजते हैं । शरीर ढका हो तो अनायास विकारी भावो के पैदा होने का प्रसग नही रहता है । इन्सान के मन मे निर्मलता रहे—यह वस्त्र धारण का प्रयोजन होता है । सही प्रयोजन की ओर ध्यान रहे—यह भावनाओ मे परिवर्तन का सूत्र होना चाहिये । जो सही प्रयोजन एव सही भावना के साथ सादे और शुद्ध वस्त्रों का प्रयोग करता है, वह वस्त्र धारण करते हुए भी प्रतिसंलीनता के तप का आराधन करता है । ऐसा तप एक ओर आन्तरिक विशुद्धि को फैलाता है तो बाहर भी आर्थिक समस्याओ को सही तरीके से सुलझाता है । सही प्रयोजन एव सही भावना के साथ कैसे वस्त्र धारण करना चाहिये—यह भी एक विस्तृत विषय है । जो शृंगार एव कामुकतापूर्ण लिप्सा से वस्त्रों का चुनाव करते हैं, वे कीमती और चमकदार वस्त्रों का प्रयोग करते हैं । इन वस्त्रो के निर्माण

के स्थान पर बढ़ता ही गया। अन्त में यहां तक नौबत आई कि उन्हे राजा के पास तक जाना पड़ा।

करकंडू की जीत

न्याय का पल्ला करकंडू ही के पक्ष भारी रहा। राजा ने यह कहा—

"यदि तुम्हे राज्य मिल जावे, तो इस ब्राह्मण को भी तुम एक गांव जागीरी में दे देना।"

और वह लकड़ी उस करकंडू को दिलवा दी।

लकड़ी को पाकर करकंडू उछलता-कूदता हुआ वहां से निकल भागा और कंचनपुर की ओर चला। साधुओं के वाक्य कभी असार्थक नहीं होते। करकंडू के भाग्य का भद्दापन अब नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। वह एक राजा की सन्तान थी। इसलिए राजा बन कर राज करना, उस का जन्म-सिद्ध अधिकार था।

कंचनपुर नरेश का देहावसान

इसी समय कंचनपुर के नरेश का देहावसान हो गया था। वे निःसन्तान थे। राज-गद्दी का उत्तराधिकारी नियत करने के लिए प्रजा तथा मन्त्रि-मण्डल के बीच पर्याप्त बहस हुई। अन्त में सर्वानुमति से निश्चित हुआ कि—

"अपने राज्य की अमुक हथिनी को उस की सूंड में एक हार डाल कर छोड़ दिया जाय। जिस के गले में वह हथिनी उस हार को पहना दे, बस! उसी को यहां का उत्तराधिकारी चुन लिया जाय।"

करकंडू राजा बना

उस हथिनी ने उसी करकंडू के गले में हार को डाल दिया।

से आप शरीरगत वासना को बढा रहे हैं या आत्मा की सद्वृत्तियों को ? सारा रहन-सहन आपको विषय कषाय के विकारो मे फंसा रहा है या आत्म-जागृति की ओर ले जा रहा है ? बाह्य जीवन के इन सारे कार्य-कलापो पर एक साधक की सदा आलोचनात्मक दृष्टि रहनी चाहिये। प्रतिसलीनता के तप का यही प्रभाव होना चाहिये कि बाहर का जीवन इन्द्रिय पोषण की दिशा मे नहीं, बल्कि आत्म-जागृति की दिशा मे अग्रसर करने वाला हो। इसे ही आप बाहर का सुधरना कह सकते हैं। बाह्य जीवन मे इस सुधार के बाद आवश्यक पदार्थों को ग्रहण किया जाता है किन्तु निरपेक्ष भाव से। ग्रहण मे आसक्ति या ममता नहीं होती। उसमे शरीर रक्षा का भाव होता है कि उस शरीर को रक्षित बना कर उसके माध्यम से आत्म-साधना की जाय। यही बाहर से सुधर कर भीतर झांकना कहलाता है।

जैसे मैंने बच्चे का उदाहरण दिया कि नित प्रति के अभ्यास से वह मण भर वजन को भी सहज ही मे उठाने की क्षमता बना सकता है, उसी प्रकार आत्म-जागृति के लक्ष्य से प्रत्येक भव्य आत्मा अपने बाह्य जीवन को भी प्रतिसंलीनता तप के माध्यम से सादा एवं शुद्ध बना अन्तर्मुखी स्वरूप प्रदान कर सकती है। यही जीवन की सहजता होती है।

आत्म-शक्ति सर्वोपरि बने :

सहज भाव से जो अपने जीवन मे तपाराधन करते हैं और आत्म जागृति की दिशा मे आगे बढते हैं, वे अपनी आत्म शक्ति को सर्वोपरि बना लेते हैं। वैसी आत्म-शक्ति निर्मल भी होती है तथा सफल नियन्त्रण भी। यह तपाराधन सिर्फ भूखे रहने से ही नहीं होता है बल्कि खाते-पीते भी ये तप किये जा सकते हैं। जो सही भावना के साथ जीवन निर्माण में ऊंचा फल देते हैं। सोई हुई आत्मा इस तपाराधन से जागती है। छोटे-छोटे तप करना भी पहले सीखें, उनका अभ्यास बनावें और तब धीरे-धीरे महान् तप करना भी सरल हो जायगा। यह तपाराधन जितना उत्कृष्ट बनेगा, आत्म-जागृति उतनी ही विशिष्ट होगी तथा प्रणिधान की शुद्धता उतनी ही प्रदीप्त बनेगी।

भगवती सूत्र में वर्णित "चले माणे चले" के अनुसार शुद्ध लक्ष्य के प्रति तपाराधन के साथ जितनी गति की जायगी, उतनी ही आत्म-शक्ति प्रखर बनेगी तथा जीवन मे मगल एवं कल्याण का सचार होगा।

गंगाशहर-भीनासर
दि० २७-११-७३

के स्थान पर बढता ही गया। अन्त मे यहां तक नौबत आई कि उन्हे राजा के पास तक जाना पडा।

करकंडू की जीत

न्याय का पलड़ा करकंडू ही के पक्ष भारी रहा। राजा ने यह कहा—

"यदि तुम्हें राज्य मिल जावे, तो इस ब्राह्मण को भी तुम एक गाव जागीरी में दे देना।"

और वह लकडी उस करकडू को दिलवा दी।

लकडी को पाकर करकंडू उछलता-कूदता हुआ वहां से निकल आया और कंचनपुर की ओर चला। साधुओं के वाक्य कभी असार्थक नहीं होते। करकडू के भाग्य का भद्दापन अब नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। वह एक राजा की सन्तान थी। इसलिए राजा बन कर राज करना, उस का जन्म-सिद्ध अधिकार था।

कंचनपुर नरेश का देहावसान

उसी समय कचनपुर के नरेश का देहावसान हो गया था। वे नि सन्तान थे। राज-गादी का उत्तराधिकारी नियत कर ने के लिए प्रजा तथा मन्त्रि-मण्डल के बीच पर्याप्त बहस हुई। अन्त में सर्वानुमति से निश्चित हुआ कि—

"अपने राज्य की अमुक हथिनी को उस की सूंड में एक हार डाल कर छोड़ दिया जाय। जिस के गले में वह हथिनी उस हार को पहना दे, बस। उसी को यहा का उत्तराधिकारी चुन लिया जाय।"

करकंडू राजा बना

उस हथिनी ने उसी करकडू के गले में हार को डाल दिया।

साधना में भी छोटे तप से बड़े से बड़े तप की ओर गति की जा सकती है तथा अपनी योग्यता एव क्षमता के अनुसार सही दिशा मे आगे बढा जा सकता है।

तप का सहज, सुगम, सरल मार्ग :

शास्त्रकारो ने तप के मार्ग को सहज, सुगम एव सरल मार्ग बताया है जिस पर चल कर आत्म-जागृति, शुद्धि एवं शान्ति की सर्वोत्कृष्टता प्राप्त की जा सकती है। तप के विधि-विधान की विशेषता यह है कि एक ही तप के छोटे से छोटे रूप पर पहले आचरण आरम्भ किया जा सकता है और कोई चाहे और अपने को सक्षम समझे तो उसी तप के व्यापकतम रूप को भी अपने जीवन मे उतार सकता है। इसीलिये तप के इन प्रकारो को साधारण से साधारण क्षमता वाला व्यक्ति भी अगीकार कर सकता है तो महान् से महान् व्यक्ति भी इनके सर्वोच्च रूपो पर आचरण कर सकता है। चाहे राष्ट्र का बहुत बडा नेता हो या अदना से अदना मजदूर अथवा दोनों के बीच के वर्ग का आदमी—सभी अपनी-अपनी योग्यता एव क्षमता के अनुसार एक ही तप का न्यूनाधिक रूप से आराधन कर सकते हैं।

तप के इस साहजिक स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रत्येक व्यक्ति ध्यानपूर्वक श्रवण करे, चिन्तन करे तथा उस पर आचरण करे, तभी वह तप की दिव्य महत्ता का यत्किंचित् मूल्यांकन कर सकता है। इस मूल्यांकन की कसौटी यह भी होगी कि उसने स्वय ने तपाराधन से अपनी आत्म-शक्ति को कितने अशो मे परिमार्जित बनाया है ? सहज तप की भावना अन्तर्शुद्धि को माजने में बलवती प्रेरणा प्रदान करती है। सच पूछें तो साहजिक योग की प्रक्रिया ही सरलतापूर्वक सफल बनती है। हठपूर्वक की गई साधना तथा हठ के साथ किया गया तप भी सही रूप से सार्थक नहीं होता है। सहज भाव से किया गया तप कर्मों की सकाम निर्जरा करता है तो आन्तरिक पवित्रता तक पहुंचाने का निष्कंटक पाथेय बनता है।

प्रतिसंलीनता का तप और वेशभूषा :

प्रतिसलीनता तप के अन्तर्गत भडोपकरण प्रतिसलीनता के विवेचन मे भोजन एव वस्त्र धारण की वृत्तियो पर विवेचन चल रहा है। वस्त्र धारण से सम्बन्धित प्रतिसलीनता के तप के विषय मे मैं कह रहा था कि कीमती बढिया वस्त्रो को छोड कर सादे और शुद्ध खादी के वस्त्रो को धारण

पता भी नहीं। फिर यह किस नाक से ऊचा हो-हो कर बोलता है ? मैं इस की सारी रण-कुशलता को अभी चौपट किये देता हूँ।"

सती पद्मावती द्वारा रहस्य-भेद

"युवक नरेश ! बोलने में इतनी शीघ्रता न करो। हाथ की छूटी हुई वस्तु कभी न कभी फिर मिल सकती है पर वाणी के द्वारा छूटे हुए बोल तो फिर किसी भी प्रकार आ कर नहीं मिलते। जिन के लिए मनुष्य को प्राय आजीवन पछताना पडता है।" साध्वी पद्मावती ने बात की स्पष्टता को समझाते हुए और वर्षों के छिपे रहस्य-भेद को खोलते हुए आगे कहा—"उन की रानी और तुम्हारी माता, वह मैं ही हूँ। तुम्हारे गले में जो मुद्रिका बंधी हुई है, वह मेरी बात की सच्चाई का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह तुम्हारे पिता दधिवाहन के नाम की है।" यह बात सुन कर करकडु के कान खडे हो गये।

"आप मेरी माता हैं ?"

"क्या कहा महासतीजी ! आप मेरी माता है ? और दधिवाहन मेरे पिता ? ओह ! तब पिता-पुत्र के बीच युद्ध कैसा ? अच्छा तो चलूं और उन के चरण वन्दन करूं।"

"बेटा ! एक क्षण और ठहरो। पहले वहां मुझे पहुच जाने दो और तब तुम आना।"

मजा न चखाऊं तो ··· ?

साध्वी पद्मावती दधिवाहन के पडाव में पहुँची और उसे समझाने-बुझाने लगी। इस पर वह बोला—

"महासतीजी ! इस समय आप का यहा कोई काम नहीं। जिस करकंडू को अपने मां और बाप तक का पता ही नहीं और वह

पाप के घनत्व का मापदण्ड इस तरह हिंसा के घनत्व पर आधारित होता है। इस मापदण्ड को नही देखने वाले ही समझ सकते हैं कि मोतियों की माला मे पाप कम है और फूलो की माला मे ज्यादा। यह अन्धकार सरीखी बात है। छोटे जीवो की बजाय बडे जीवो की हिंसा मे महापाप होता है और गृहस्थ के लिये यह आवश्यक है कि पहले वह महापाप को त्यागे और फिर अल्प पाप को भी छोडे। महापाप का सेवन करे और अल्प पाप को त्यागने की बात कहे—यह उपहासास्पद लगता है।

महापाप, अल्पपाप और तप :

एकेन्द्रिय एव पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा का पाप समान नही होता है। एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा करने वाला महापापी नही कहलाता, किन्तु पचे-न्द्रिय जीवो की हिंसा करने वाला महापापी होता है। एक श्रावक को पहले महापाप को छोडना चाहिये और बाद मे अल्पपाप का भी त्याग करने की उसको भावना रखनी चाहिये तथा उसके लिये पश्चाताप रखना चाहिये। जितनी स्वल्प से स्वल्प हिंसा हो सके उतना ख्याल रखना श्रावक के लिये तप का कार्य माना गया है। प्रतिसलीनता का तप यही है कि महापाप को त्यागने के बाद आत्मा की वृत्तियो मे धीरे-धीरे ऐसी सन्नद्धता पैदा की जाय कि स्वल्प से स्वल्प पाप को त्यागने की ओर भी कदम आगे बढें। महा से अल्प और अल्प से स्वल्प पाप सेवन की ओर आत्मा की गति बने—यही इन्द्रिय एवं मन के दमन के द्वारा प्रतिसलीनता के तप का उद्देश्य होता है।

यदि एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा को समान समझ लें—मोतियो की माला व फूलो की माला को धारण करने मे एक पाप मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि अनाज के दानो और एक हाथी या बकरे की हिंसा बराबर हो जायगी। अनाज का दाना एकेन्द्रिय जीव होता है तो हाथी या बकरा पचेन्द्रिय जीव। अब कोई यह कहे कि हजारों दानो की हिंसा से एक रोटी बनती है, उससे तो एक हाथी या बकरे के मास से कई लोगो की क्षुधा शान्त की जा सकेगी? श्रावक के लिये भी वह कह सकेगा कि एक की क्षुधा को शान्त करने के लिये भी कितने दानो के जीवो तथा वायु, अग्नि, जल आदि के जीवो की हिंसा का प्रसग होता है? तब उसको यह कहना आसान होगा कि हजारो एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा करने वाला महापापी और एक बकरे की हिंसा करने वाला अल्प पापी हुआ। किन्तु यह सही विचार और वास्तविक स्थिति नही है।

में रजोहरण को ले लिया और सफेद चादर को ओढ़ कर साधु वेश को सदा के लिए अपना लिया।

उधर साध्वी पद्मावती भी अपनी गुरुणी के पास जा पहुँची। तब से अन्त समय तक तप और सयम की कड़ी साधना कर के आत्म–कल्याण को प्राप्त किया।

देवी! तुम धन्य हो!

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पुण्यशाली आत्मा जब प्रसव होने वाली होती है, तब गर्भवती माता को कैसे स्वप्न आते हैं?

[२] अधम-आत्मा जब प्रसव होने वाली होती है, तब गर्भवती माता को जो स्वप्न दिखते हैं, उन का वर्णन करो।

[३] स्वप्न तथा दोहलों का सूक्ष्म भेद विस्तार पूर्वक बताओ।

[४] अपनी इच्छाओं को दबाने से शरीर पर क्या असर पड़ता है? पद्मावती के उदाहरण से अपने कथन की पुष्टि करो।

[५] हाथी की सवारी ने पद्मावती के भाग्य को किस प्रकार पलट दिया? थोड में वर्णन करो।

[६] सागारी सन्थारे का विस्तार पूर्वक वर्णन करो।

[७] 'दुखिया का एकमात्र जीवन आंसू ही होते हैं' कैसे?

[८] करकण्डू ने एक मेहतर के घर में पल-पुस कर भी बालकपन में अपने राजपूती अंश को कैसे प्रकट किया?

[९] करकंडू राजा कैसे बना?

[१०] महासती पद्मावती ने युद्ध-स्थल को पावन प्रेम की भूमि में कैसे बदल दिया?

श्रावक कम से कम भी प्रथम और द्वितीय देवलोक में जाता है और उत्कृष्ट मे जावे तो बारहवें देवलोक तक पहुंचता है। तो देवलोक के आयुष्य की स्थिति महापाप के आधार पर नहीं बन सकती है। शास्त्रीय पाठ से यह भली-भाति सिद्ध हो जाता है कि एकेन्द्रिय जीवों की जो लाचारी से हिंसा करता है, उसकी वह हिंसा महापाप की परिभाषा मे नही आती है। श्रावक का उस हिंसा के बिना चारा नही है, इस कारण वह विवशता और प्रायश्चित के साथ उसे करता हुआ चलता है। इसके साथ ही प्रतिसंलीनता के तपा-राधन द्वारा अपनी आत्मा का अधिक गोपन करता हुआ अल्प से स्वल्प पाप मे अपनी प्रवृतियो को ढालता है।

महापाप और अल्पपाप का विज्ञान हमको किसने बताया ? कर्म और धर्म दोनो की इस काल-प्रवाह मे सर्वप्रथम शिक्षा देने वाले भगवान् श्री ऋषभदेव थे। उनके युग मे पहले युगलिया जीवन चलता था। न कोई खेती करना जानता था, न कर्म या धर्म का ही अन्य कोई कार्य। जब युगलिया जीवन विगडने लगा और हिंसा—प्रतिहिंसा का वेग बढने लगा तो ऋषभदेव ने गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए असि (तलवार), मसि (स्याही) और कसि (कृषि) के कर्म बताए। असि से रक्षा करके, मसि से लिखा-पढी करके और कसि से खेती करके जीवन निर्वाह के उपाय उन्होने लोगो को सुझाये। तो क्या भगवान् ऋषभदेव ने लोगो को महापापी बनने का मार्ग बताया ? यदि खेती और एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा महापाप का कारण होती तो भगवान् ऐसे महा-पाप का मार्ग कभी भी नही बताते।

भगवान् अपनी गृहस्थ अवस्था मे भी अतीव ज्ञानी थे। उन्होंने देखा कि जीवन निर्वाह सर्वथा हिंसा के त्याग पर सिवाय साधु जीवन के सम्भव नहीं होता, अत आम लोगो को ऐसा मार्ग बताया जाय जिसमे अल्प हिंसा होती हो। किन्तु इसके साथ महारम्भ एव महाहिंसा से उन्हे बचाने का भी उनका पूरा ध्यान था, अत कही भी पचेन्द्रिय की हिंसा को किसी भी बहाने से आवश्यक नही बताई। इसे मैं काल की विडम्बना कहू या मानव की अथवा पाश्चात्य सस्कृतिजन्य दुर्दशा कहू कि ऐसे कुतर्कों का जन्म होता है और हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध मे भ्रामक धारणाओ का प्रसार किया जाता है। महापाप और अल्प पाप के सम्बन्ध मे शास्त्रीय दृष्टि बिल्कुल साफ है और यह देशना भी साफ है कि अल्पपाप का विमोचन भी प्रतिसलीनता के तप के माध्यम से एक श्रावक को निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिये। भगवान् ने गृहस्थ अवस्था में

आज की नवीन सभ्यता में पली-पुषी नारियों को इस उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। सद्-दान में अपने पति के समान ही उसे भी अपने दिल को उदार और हाथ को लम्बे मे लम्बा वना ने का सदा-सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि वह अर्द्धाङ्गिनी है। उसी के कारण वह घर होता है। वही एक-मात्र घर की स्थिति, रक्षा और जीवन का आधार होती है। पुरुष करोडपति हो कर के भी घर की देख-रेख वैसी कभी नहीं कर सकता, जैसी कि एक सदाचारिणी और निर्धन नारी समुचित व्यवस्था कर सकती है। अत' पति दान देना चाहता हो, तो पत्नी कभी रोडा वन कर उस के मार्ग में वाधक तो कभी न वने।

पत्नी की 'हूँ'

एक समय की वात है, जव कि पति कुछ दान दे रहा था। परन्तु उस की पत्नी ने वीच ही में 'हूँ' भर कर दिया। वस, उस का यह करना ही था कि उस के पति के हाथ से दान का वह पात्र पृथ्वी पर छिटक पडा।

अत वे पति के लिए नहीं तो न सही किन्तु अर्धांगिनी होने के नाते अपने कल्याण ही के लिए सही, पति के सद्-दान कार्यों में वाधा तो कभी न किया करें।

पत्नी का विक्रय : काशी के चौराहे पर

हरिश्चन्द्र ने जव अपना सारा राज्य दान में दे दिया, तव उस ने अपनी पत्नि से कहा—

"प्रिये! मेरे सिर पाच सौ सोने की मोहरों का कर्ज है और उस का चुकाना भी उतना ही आवश्यक है कि प्राणों को धारण करना।"

भाग-दौड करना चाहती हैं, उनका निरोध कर लेना और उन क्रियाओं का भी यथासाध्य त्याग करना जो अनिवार्य हिंसा के दायरे मे आती है। तपाराधन की वृत्ति आत्मा का गोपन और संकुचन करती है—जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों को भी अल्पतम सीमा मे मर्यादित बना देती है। उणोदरी तप क्या है ? जो रुचि से खाते हैं, उससे भी कम खाइये। यह रस-परित्याग तप तो स्वाद-वृत्ति को ही समाप्त करके सादे से सादे खाने तक जीवन को ले आता है। इस सादगी को सारे पदार्थों मे व्यापक बनाने वाला प्रतिसलीनता का तप होता है। जहा प्रतिसलीनता का तप है, वहा किसी भी विकार के दल-दल में गिरने का प्रसंग भी नही रहता है क्योंकि इन्द्रियो आदि के गोपन से आत्मा में अपनी जागृति एवं शुद्धि के प्रति प्रत्येक क्षण मे पूरी सन्नद्धता रहती है। तपाराधन का जीवन मे यही विशिष्ट महत्व है कि वह शरीर मोह से हटाकर आत्मा मे केन्द्रस्थ बनाता है और शरीर मोह के कारण होने वाली अल्पतम हिंसा से भी बचाता है। तपतपाता है शरीर को—इसलिये कि वह अपना सुख भूल जाय और अपने कर्तव्य को समझ जाय कि उसे आत्म-जागृति एवं शुद्धि के सम्पादन मे अपना महत्वपूर्ण योगदान देना है। आप जानते हैं कि शरीर ही आत्म-साधना का प्रधान साधन होता है, बशर्ते कि वह संयमित और नियमित बन जाय। यह सयम और नियम का मार्ग तपाराधन से प्राप्त होता है।

शरीर पोषण के साधनो को छोड़िये !

यदि तप के वास्तविक महत्व को अपने आचरण मे उतारना है तो शरीर पोषण के साधनो का त्याग करना होगा। चाहे कीमती वस्त्र हों, मोतियों की मालाए हो या क्रूम चमडे के जूते हो—इन सबसे शरीर को सुख मिलता है और उस बाहरी सुख के कारण इन सब पदार्थों के पीछे रही हुई हिंसा को देखना लोग अक्सर करके भूल जाते हैं। इन पदार्थों के उपयोग से उस पाप के भागी वे बनते हैं—यह तो एक बात, परन्तु उन पदार्थों के उपयोग से विकारी वृत्तियो का निर्माण होता है तथा शरीर का पोषण होने से आत्म-शक्ति दुर्बल बनती है या दुर्बल हो तो सबल नहीं हो पाती है—इस पर भी गहराई से विचार किया जाना चाहिये। ये पदार्थ हो या शरीर मात्र का पोषण करने वाले अन्य पदार्थ—इनको तो छोड़ते रहने की ही भावना प्रत्येक भव्य आत्मा को रखनी चाहिये।

पाप को समझें, उसके परित्याग की वृत्ति का निर्माण करें तथा इसी

हसते मैं अपने प्राणों को दे दूगी, परन्तु अपने धर्म को तो कभी न छोडूगी। तुम जैसे सबलों का मुझ जैसी अबला पर यह अत्याचार? धिक्कार है तुम्हारे पौरुष को! भाई! जरा ईश्वर और धर्म को पहचानो और सचेत होकर कोई कार्य करो।"

तारा के इन शब्दों ने उस के हिये की आखें खोल दीं। उस ने अपनी करणी पर पश्चात्ताप करते हुए क्षमा-प्रार्थना की। अनेकों धन्यवाद भी उस ने तारा को दिये। परन्तु तारा के भाग्य में आपदाएँ अभी और भी बदी थीं।

पांच सौ स्वर्ण–मुद्रा लुटीं

उधर हरिश्चन्द्र उन मोहरो को ले कर कर्ज चुका ने को जा रहे थे, कि इतने ही में उसी देव ने लुटेरा बन कर रास्ते ही में उन सम्पूर्ण मोहरों को लूट–खसोट लिया। हा हन्त! राज्य गया, धर्मपत्नी और पुत्र दोनों भी खो गये और उन्हे बेच कर जो धन पाया था, वह भी चला गया।

राजा हरिशचन्द्र स्वयं बिके एवं भंगी की नौकरी

अब तो अपने-आप को बेच कर कर्ज चुका ने के सिवा और कोई चारा नहीं। यह सोच अन्त में उस ने अपने आप को भी पाच सौ मोहरों के बदले काशी के एक 'कालू भगी' के हाथ बेच डाला उस ने राजा को 'मणिकर्णिका घाट' के श्मशान पर आये हुए मुर्दों की कर वसूली का काम सौंपा। परन्तु अपने सत्य और धर्म की रक्षा के हेतु राजा वहा भी कमर कस कर अपने काम में पूरे बल से जुट पड़ा।

हरिश्चन्द्र, तुम धन्य हो! सत्य तुम जैसों के बल पर ही अभी तक ससार में टिक पाया है।

रोहिताश्व की मृत्यु

पड़ी जिसमें विकारी भाव भरे हुए हैं। अब एक तो वह उस गाने को सुनने मे दत्तचित्त हो गया तो वह उसका अशुद्ध प्रणिधान झलकता है। दूसरे, वह अपनी कर्णेन्द्रिय को किसी महात्मा का उपदेश सुनने मे या अन्य शुभ श्रवण कार्य मे लगा देता है तो यह प्रतिसलीनता का तप हुआ कि कर्णेन्द्रिय से उसका काम भी लिया, किन्तु उस पर निरोध रखा कि वह विकारी प्रवाह मे न बह जाय।

इसी प्रकार का व्यवहार प्रत्येक इन्द्रिय के साथ किया जा सकता है जो बुराई के प्रति निरोधात्मक व्यवहार होगा और यही व्यवहार एक प्रकार से प्रतिसलीनता के तप की साधना का प्रकार है। नेत्र किसी सुन्दर आकृति को देखते हैं—विकारी दशा पैदा होने लगती है कि साधक नेत्रो को इस प्रकार की भावना से नियन्त्रित करता है कि वे ही नेत्र उस सुन्दर आकृति मे मां या बहिन की छवि देखने लग जाते हैं। यह चक्षुरिन्द्रिय प्रतिसलीनता का तप हो जायगा। इसी तरह मनुष्य की विकारी भावना का रूपक सिनेमा-गृह में दिखाई देता होगा, जहा वह अपने नेत्रो और अपने मन की शक्ति के अपव्यय के साथ आर्थिक अपव्यय भी करता है। वहाँ प्रणिधान की शुद्धता भी बिगडती है। तो व्यक्ति विवेक धारण करके सिनेमा देखने से अपने मन को रोके और उसे किसी अन्य शुभ कार्य मे लगावे तो यह भी प्रतिसलीनता का तप होगा। इन्द्रियो और मन के पोषण से जितना नियन्त्रित रहेंगे, उतना ही अधिकाधिक प्रतिसंलीनता के तप का आराधन होगा, तथा यही तप मनुष्य को आत्माभि-मुखी बनाता है और उसे आत्मा को पोषण करने वाली प्रवृत्तियो मे नियोजित करता है।

कल परसो मुझे एक भाई अपने विदेशो के अनुभव सुना रहे थे कि वहा बच्चो को हर कोई फिल्म नहीं दिखाई जाती है बच्चो के लिये अलग ही शिक्षाप्रद फिल्मे होती हैं। तो यह प्रारम्भ से बच्चो मे अच्छे सस्कारो को जमाने का एक नैतिक प्रयत्न है। यहां इस देश मे इतनी गहराई से विचार नहीं होता है, जबकि यहा तो ऐसी प्रवृत्तियो पर मनुष्य स्वेच्छा से ही तप मान कर अपने आप रोक लगा सकता है। इन्द्रियो को दौडने से इस तरह रोकेंगे तो फिर आन्तरिक तपो की साधना भी सुसाध्य हो जायगी। लोग कहते हैं कि धर्म की तरफ युवको का आकर्षण नही है तो इसकी जवाबदारी उनके माता-पिताओ की है, जो बचपन से उन्हे न दिखाने लायक फिल्मे दिखाते हैं तथा उनके प्रारम्भिक संस्कारो को विकृत बनाते हैं। ऐसे विकृत व अशुद्ध

जा कर उन्हों ने सब बातें वैसी ही देखी, जैसी कि उन्हों ने उस आदमी के द्वारा सुन पाई थीं। तब तो एकाध गुप्तचर तो वहीं खडे रहे। शेष दौड़ कर राजा के सामने आये और जैसा उन्हों ने देखा था, वर्णन किया।

राजा ने यह सोच कर कि-'वह डाकिनी राज्य में और किसी की प्राण-लेऊ न बन बैठे। इस के लिए उस ने उस के सिर को धड से तलवार के द्वारा अलग कर दे ने का हुक्म दे दिया।'

यह हुक्म उसी कालू भगी पर आया। उस ने हरिश्चन्द्र के हाथ उस काम को सौंपा।

'श्मशान कर चुकाओ!'

उधर बेचारी तारा अपने बुढ़ापे के एकमात्र अवलम्बन अपने पुत्र के शव को गोदी में ले कर रोती-बिसूरती उसी श्मशान में जा बैठी। हा दैव! राजेश्वर का पुत्र आज बिना कफन के श्मशान में पड़ा है। तारा ने दिल को कडा कर के अपने आंचल को फाड़ उस में पुत्र के शव को लपेटा और उसे जला ने की तैयारी कर ने लगी।

हरिश्चन्द्र ने आ कर उसे कहा—

"पहले श्मशान-पति का कर चुकाओ, तब दाह-क्रिया करो।"

तारा ने अपने पतिदेव को पहचान लिया और बोली-

"प्राणनाथ! यह आप ही का पुत्र रोहिताश्व है। बगीचे में फूल चुन ने को गया था। वहां साप के डस जाने से इस की यह गति हुई।"

यह कहते ही कहते छाती कूट-कूट कर वह रोने लगी और धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी।

इन्द्रियों की प्रतिसंलीनता

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती......"

मनुष्य जीवन चैतन्य स्वरूप होता है, किन्तु सांसारिक मूर्च्छाओ से धूमिल पडे इस चैतन्य-स्वरूप को अपने ही भीतर जगाना और अभिव्यक्त करना पडता है। चैतन्य-स्वरूप की पूर्णंत जाग्रति एव अभिव्यक्ति ही इस जीवन का उद्देश्य होना चाहिये। इस पूर्णता को ही हम परमात्म-स्वरूप कहते हैं। वर्तमान मे इस आत्मा मे परमात्म-स्वरूप की सत्ता का अस्तित्व अवश्य है परन्तु इस सत्ता का पूर्ण रूप से प्रकटीकरण जब तक नही किया जाय, इस आत्मा की परमात्मा के तुल्य स्थिति नही बनती है। इस परम पवित्र स्वरूप का विकास करने के लिये यह मानव तन ही सशक्त माध्यम के रूप मे माना गया है। इसी शरीर के जरिये अपनी आन्तरिक शक्तिया आच्छादित भी होती हैं तो इसी शरीर के जरिये ही अपनी समस्त शक्तियो को परम उज्ज्वल भी बनाई जा सकती हैं। प्रश्न इसके उपयोग का रहता है। साधन तो सदैव साधन ही रहता है। यह साधना को प्रयोग मे लाने वाले पर निर्भर करता है कि वह उस साधन का कैसा प्रयोग करता है? सिद्धि की प्राप्ति उसी प्रयोग-विधि पर निर्भर करती है।

साध्य और साधन का अभिन्न सम्बन्ध होता है जिसका सचालन साधक करता है। यदि साध्य सुनिश्चित है, किन्तु साधन का प्रयोग विपरीत दिशा मे किया जाय तो साधक उससे सिद्धि प्राप्त नही कर सकेगा। साध्य की सिद्धि साधन के सद्-प्रयोग से मिलती है। यहा भी चैतन्य की पूर्णता—यह साध्य है। साधक इसकी प्राप्ति मनुष्य तन के साधन से करना चाहता है किन्तु जब तक वह इस साधन की प्रयोग विधि को नही समझता है, तब तक साधन मिल जाने के बावजूद भी वह उसका दुरुपयोग करता रहता है। मनुष्य तन मिला है और उसका सद् प्रयोग आत्मिक शक्तियो के समग्र विकास एव

"इन दोनों के सत्य और धर्म की पर्याप्त परीक्षा हो चुकी। वे उस में सोलह आना सफल हो गये। अब इन की अधिक परीक्षा लेना, अपने देवत्व को कलंकित करना है।"

देव की स्वीकारोक्ति एवं क्षमा-याचना

यह सोच-विचार उस ने उसी समय हरिश्चन्द्र का हाथ जा पकड़ा और उस के पैरों पड़ बार-बार क्षमा-याचना करने लगा। वह बोला—

"देवी! सती तारा! बाल-बाल निर्दोष है। यह सारा काम मेरा था। मैं ने डोम बन कर तुम को खरीदा। मैं ने ही सांप बन कर बालक को डसा। मैं ही लुटेरा बना। मैं ही साहूकार बन कर राज दरबार में पहुचा। रानी के हार को चुरा कर तारा को पहनाने में भी मेरा ही हाथ था। पुत्र रोहिताश्व! अब शीघ्र ही उठ बैठ।"

रोहिताश्व उसी समय सचेत हो कर उठ बैठा।

सत्यधारी की प्रशंसा

काशी नरेश ने जब यह हाल सुना, तब तो वह भी वहीं आ पहुँचा। उस ने और उस के सभी दरबारियो तथा काशी की सारी प्रजा ने राजा के सत्य, धर्म ओर कर्तव्य-पालन की सैंकड़ों बार प्रशंसा की और अपने अपराध के लिए क्षमा चाही।

अन्त में उस देव ने नत-मस्तक हो हरिश्चन्द्र से प्रार्थना की-

"राजन्! जाइये और अपना राज्य आप पीछा संभालिये।"

दूसरे देवों ने भी इस बात का समर्थन किया। तब तो तीनों व्यक्ति पीछे अयोध्या को पहुचे। वहां की जनता ने अपने भाग्य को सराहते हुए अपने अन्त:करण से उन का आदर-सत्कार किया। हरिश्चन्द्र फिर से अयोध्या के राजा बने।

परतन्त्र करने वाले कौनसे तत्त्व हैं तथा इनसे मैं स्वतन्त्रता किन उपायों से प्राप्त कर सकता हू । इसी चिन्तन की मूल अनुभूति यह हो कि मेरे भीतर उच्चतम विकास की समूची क्षमता समाई हुई है—मैं सब साधन सामग्री से परिपूरित हू । सारे विश्व मे जिन–जिन श्रेष्ठ तत्त्वो की उपलब्धि हैं, उनकी विद्यमानता मेरे भीतर बीज रूप मे है—मैं जिन–जिन का विकास करना चाहूं तो वह कर सकता हू । मैं यदि जीवन विकास की दिशा मे मोड़ करूं और निष्ठापूर्वक चलूं तो कोई विकास ऐसा नही जिसे मैं प्राप्त न कर सकूं । ऐसी अनुभूति अपनी योग्यता और अपनी क्षमता की अनुभूति होती है । जब ऐसी अनुभूति पुष्ट बन जाय और अपनी परतन्त्रता का भान भी हो जाय तो वैसी मन स्थिति मे स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये आसानी से अथक प्रयासो की शृंखला प्रारम्भ हो सकती है ।

जीवन–दिशा की ओर मोड़ :

ऐसा अनुभव, ऐसा चिन्तन और ऐसा पुरुषार्थ मनुष्य को वास्तविक जीवन–दिशा की ओर मोडने मे सफल बनता है । यहा जीवन की दिशा से तात्पर्य द्रव्य दिशा से नही है । द्रव्य दिशा जैसे आकाश की दिशा होती है—उर्ध्व दिशा—जिसका तो सम्भवत कोई अन्त नही पा सकता है किन्तु जीवन की जो अवस्था है, उसके विकास के अन्तिम छोर तक मनुष्य अवश्य ही पहुच सकता है । यह अन्तिम छोर ही जीवन की पूर्णावस्था का नाम है । आन्तरिक शक्तियो की पूर्णता प्राप्त करने के लिये आत्मा स्वयं पर विश्वास करे और परमात्मा पर विश्वास करे । ये दोनो विश्वास उसके लिये आवश्यक हैं । यदि आत्मा ने स्वय पर पूरा विश्वास किया—अपने अस्तित्व को अपनी भिन्न–भिन्न अवस्थाओ के सन्दर्भ मे समझा तो निश्चित मानिये कि परमात्मा को उस आत्मा ने पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है । आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो मे अभिन्नता होती है । ध्येय और ध्याता तथा ज्ञेय और ज्ञाता के रूप मे एक दूसरे का पूर्ण सम्बन्ध होता है । परमात्मा का स्वरूप ध्येय, ज्ञेय और लक्ष्य रूप मे विकासशील आत्मा को अपने समक्ष रखना चाहिये ।

जब ध्येय समक्ष है, ध्याता की निष्ठा है तो ध्यान–शक्ति का प्रवाह उसमे जुडता है और जीवन–दिशा की ओर मोड होता है । ध्यान–शक्ति के प्रवाह के साथ यदि आत्मा स्व–स्वरूप की अवस्था मे तन्मय बनती है और इस परिपूर्ण दिशा का चिन्तन करती है तो वह चिन्तन केवल बौद्धिक दृष्टि से नही होता बल्कि उसमें आत्मानुभूति का पूरा पुट रहता है । उस समय उसका

आज से लगभग ग्यारह लाख वर्ष पहले हमारे इसी भारत वर्ष में सिन्धु नदी के किनारे 'महेन्द्र' नाम का एक नगर था। उन दिनों महाराज 'महेन्द्र' वहा का राजा था। बहुत सम्भव है कि महेन्द्रपुर की नींव भी उसी राजा के हाथ से पड़ी हो, जिस से उस का नाम 'महेन्द्रपुर' पड़ा। उस की पटरानी का नाम 'वेगवती' था। उस के सन्तानें तो कई पैदा हुई थीं, परन्तु उन में पुत्री केवल एक ही थी। उस का नाम था 'अजना'।

अंजना : कला-चतुरा

उस के लालन, पालन और शिक्षा का समुचित रूप से बडा ही उत्तम प्रबन्ध किया गया था। यही कारण था, कि वह थोडे समय में गणित, इतिहास, भूगोल, लेखन और भाषण आदि की अनेकों विद्याओं में तथा कलाओं में बड़ी ही चतुरा हो चुकी थी।

वर की खोज

तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही उस के लिये उस की आयु, शरीर, सौंदर्य, स्वास्थ्य, विद्या, बल और विवेक के अनुसार एक

करती हैं, उन्हें—आत्म—विकास के श्रेष्ठ मार्ग पर गतिशील बना सकेंगे।

यह मानव—जीवन आत्मिक शक्तियो और सच्ची शान्ति का केन्द्र बनना चाहिये, क्योकि ये उपलब्धिया अगर इस जीवन मे भी अर्जित नहीं की जा सकी तो फिर किस जीवन मे की जा सकेंगी ? विकास के केन्द्र मे पहुच कर अगर इन शक्तियो के अपव्यय को रोक लिया गया तो शान्ति की अनुभूति भी सहज ही प्राप्त की जा सकेगी। इसलिये इन्द्रियो की शक्तियो का अपव्यय रोकना जरूरी है। इन्द्रियो के विषयो मे जो रुचि दौडती है, वह आत्मा की बेभानी के कारण है, वरना सदा अन्तरात्मा से आवाज आ जाती है कि कौनसा कार्य आत्म—शक्तियो का सदुपयोग है तथा कौनसा कार्य उनका दुरुपयोग ? इस दुरुपयोग को जो रोकना है, वह प्रतिसलीनता का तप है। यदि बच्चो को आप अश्लील प्रदर्शनो को समझा बुझा कर देखने से रोकते हैं तो यह एक प्रकार से इस तप की दलाली करते हैं। कभी-कभी मेरे भाई पचरंगी आदि अनशन तप की दलाली करते हैं तो वे सिर्फ यही सोचते हैं कि उपवास, वेला, तेला आदि तप की ही दलाली करना, लेकिन प्रत्येक प्रकार के तप की दलाली एक सी लाभ प्रदायक होती है। अश्लील प्रदर्शनो को न देखने की प्रवृत्ति को फैलाने से इन्द्रिय—प्रतिसलीनता तप की दलाली होती है और इस दलाली का भी आत्मा को लाभ मिलता है।

इन्द्रियो के विषय और तप :

चक्षु इन्द्रिय से आगे बढे तो घ्राणेन्द्रिय हैं। इस नासिका मे भी दोनो प्रकार की गन्ध प्रविष्ट होती है—एक सुगन्ध और दूसरी दुर्गन्ध। सुगन्ध पाकर खुशी होती है तो दुर्गन्ध से नाक—भौं सिकोडते हैं। सुगन्ध मे आसक्ति और दुर्गन्ध से घृणा—ये दोनो वृत्तियां इस आत्मा को मलिन बनाने वाली हैं। प्रतिसलीनता के तप की आराधना करने वाला दोनो प्रकार की अवस्था में सम—वृत्ति रखता है और निरपेक्ष भाव से पदार्थों के स्वभाव को यथावत् रूप से देखता है। भावना यह रहनी चाहिये कि पदार्थ का स्वभाव तो सदैव परिवर्तनशील होता है—आज है और कल बदल जाता है। जिन पदार्थों से आज घृणा की जाती है, वे ही कल रूप—परिवर्तन के बाद ग्रहण योग्य बन जाते हैं। इस तप का यही अर्थ है कि ऐसी तटस्थ भावना बनाई जाय और आसक्ति तथा घृणा की वृत्तियो का त्याग किया जाय, जिससे आत्मा मे राग—द्वेष का विकार न फैले और कर्म—बन्धन न हो।

प्रतिसलीनता के तपाराधन मे इस दृष्टि से पदार्थ की शुद्ध एवं अशुद्ध

धन्यवाद दिये और उसे नमन भी किया। पवनजय और उस का मंत्री विराने मनुष्यों के रूप में इस बात को अथ से इति तक सुन रहे थे। उस के कुछेक क्षणों के बाद ही एक सखी ने कहा–

"अंजना! अब तो पवनजय के साथ तुम्हारे जीवन का सम्बन्ध बाधा गया है।"

पवनजय का रोष एवं जलन

अजना ने इस कथन पर न तो कोई धन्यवाद ही पवनजय को दिया और न नमस्कार का कोई भाव ही उस के प्रति दिखाया। पवनजय को उस का यह व्यवहार बडा ही अखरा। वह इतना बिगड़ा वि अपनी कमर में से तलवार को उस ने खींच ली और लपकने के लिये उतारू हुआ, अंजना के सिर को उसके धड से अलग कर देने के लिए। बीच में पड कर मन्त्री ने कुमार का हाथ पकड लिया और बोला—

"प्यारे कुमार! रोगी, वन्दी, शरणागत, बालक और कन्या ये छहों तो सदा अवध्य हैं। सच्चे राजपूत इन पर भूल कर भी कभी हाथ नहीं उठाते।"

"तो अच्छा! मैं इस के साथ विवाह न करूंगा।" कुमार ने कहा।

"कुमार! यह काम भी तुम्हें नहीं शोभता। क्योंकि राजपूतों की जबान वज्र की लीक होती है। यही नहीं, तुम्हारे ऐसा कर ने से तुम्हारे पिताजी की आज्ञा की अवहेलना भी होगी।"

"तो ठीक! मैं विवाह जरूर कर लूगा। पर फिर भी बदला तो लूंगा जरूर। आजीवन विरह की ठडी मौत से मैं इसे मारता रहूगा।" यह कह कर वे दोनों वहा से चल पड़े।

अंजना का विवाह

मेखरता। वे कहते कि शुद्ध पदार्थ क्या अशुद्ध होकर फिर शुद्ध हो सकता है? प्रधान कहते कि पदार्थों कि पर्यायें तो बदलती ही रहती हैं। इस परिवर्तन को तटस्थ भाव से देखना चाहिये – इसमे किसी परिवर्तन के प्रति राग और किसी परिवर्तन के प्रति द्वेष नही लाना चाहिये। ऐसी वृत्ति के निर्माण से प्रतिसलीनता का तप होता है। राजा को फिर भी सम-दृष्टि की यह शिक्षा पूरी तरह से गले नहीं उतरती थी।

एक दिन राजा अपने प्रधान के साथ नगर के बाहर जा रहे थे। किसी कारणवश उस दिन सारे नगर का मैला लेकर बहने वाले गटर की सफाई नहीं हो सकी थी। गन्दी कीचड मे से भरी दुर्गन्ध फूट रही थी। समीप आते ही राजा ने अपनी नाक को वस्त्र से ढक दिया तथा उस दुर्गन्ध के प्रति घृणा प्रकट की। किन्तु प्रधान हल्के से मुस्कराये और किया उन्होने कुछ नहीं। राजा ने यह देखा तो बोले कि क्या उनकी नासिका की सज्ञा समाप्त हो गई है? प्रधान ने धैर्य से उत्तर दिया—यह तो पदार्थ और इन्द्रिय का स्वभाव है—समदृष्टि से उसे समझना चाहिये। महाराज अजितशत्रु को इस उत्तर पर बडा क्रोध आया और उन्होने पूछा कि क्या वे इस दुर्गन्धमय गन्दगी को भी मनुष्य द्वारा ग्राह्य बना सकते हैं? प्रधान ने उत्तर दिया कि वे ऐसा कर सकते हैं। राजा ने वैसा करने का आदेश दे दिया।

प्रधान ने उस गटर का पानी भर कर मगवाया और वे विविध प्रयोगों से उस पानी को स्वच्छ कराने लगे। जब वह शुद्ध जल बन गया तो उसे सुवासित बनाया गया। फिर एक सुराही मे भर कर जल राजा के भोजनालय में भिजवा दिया गया कि भोजन के समय जब राजा जल मांगे तो पीने के लिये उन्हें यह जल दिया जाय और उन्हे बतादे कि यह जल प्रधान जी ने भिजवाया है। ऐसा ही किया गया। भोजन के समय जब राजा ने उस जल को पिया तो वह उन्हे बडा ही स्वादिष्ट लगा। उन्होंने रसोइये से पूछा कि आज यह इतना स्वादिष्ट जल कहा से मगाया गया है तो उसने कह दिया कि इसे प्रधान जी ने भिजवाया था। राजा ने सोचा कि प्रधान इतना भेद-भाव रखता है कि अपने पीने का ऐसा स्वादिष्ट पानी आज ही उसने भिजवाया है। राजा ने प्रधान जी को उसी समय बुला भेजा और पूछा ऐसा बढिया जल आपने कहा से मगवाया? प्रधान ने उसी हल्की मुस्कराहट से कहा इसमे बढ़ियापने का कोई सवाल नही – यह तो पुद्गलो का स्वभाव होता है। अच्छा-बुरे मे और बुरा-अच्छे मे बदलता रहता है।

गई। हथियारों की चमचमाहट, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिघाड, योद्धाओं की ललकार और उन की बाहुओं की फटकार तथा रण-भेरियों के नाद से गगन-मंडल गूंज उठा। लोगों के दिल दहल गये और कप-कपी खा कर कहने लगे—

'महाराज प्रल्हाद ने आज किस पर कड़ी निगाह की है ? उन की क्रोधाग्नि में पड कर आज किस का मन परलोक को जाने के लिए मचल पड़ा है ?"

'मै कुपूत नहीं !' : पवनजय

इस बात का पता कुमार को भी लगा। वे सीधे अपने पिता के पास गये और बोले—

"युद्ध में इस बार मैं जाऊगा। आप कष्ट न उठावें। मैं ऐसा कुपूत नहीं, जो आप के इस बुढापे में आप को रण में जाने दू और मैं ऐसा कायर भी नहीं, जो आप के नाम को कलकित कर के आऊ।"

महाराजा प्रल्हाद और सम्पूर्ण दरबारियों ने कुमार के सत्साहस और वीरता की भूरि-भूरि प्रशसा की। पिता ने पुत्र की प्रार्थना को स्वीकार किया। कुमार का हृदय हर्ष से उछल पड़ा। उन्हों ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया।

पवनजय का आश्चर्य : 'यह कौन है ?'

सती अजना को जब यह खबर लगी, पति के चरण-दर्शन और प्रयाण के समय शुभ शकुन के लिए दही की एक मटकी अपने सिर पर रख कर वह उन के सामने आ खडी हुई। ज्यों ही कुमार की निगाह उस पर पडी, उस के सौन्दर्य को देख वह चकित हो रहा। उस ने अपने मन्त्री ये पूछा—

भोग से ममत्व जागता है और ममत्व जिस कदर बढ़ता जाता है, भोग लिप्सा भी गहरी बनती जाती है। यह निश्चित है कि भोग का अन्त दुखद होता है। इसे इस दृष्टान्त से समझिये कि आप बादाम के हलवे को स्वादिष्ट और पौष्टिक मानते हैं तो आप उसे खाते ही चले जाइये—खाते ही चले जाइये, फिर क्या परिणाम होगा? क्या उससे बदहजमी और बीमारी नहीं होगी? और जब बीमारी होगी तो उस हलवे को सुखद कैसे मान सकते हैं? जितना अधिक भोग—उतना ही अधिक दुख—यह शाश्वत सत्य माना गया है।

ममत्व की विरोधी दृष्टि समत्व की दृष्टि कहलाती है। ममत्व स्वार्थी और सकुचित होता है, किन्तु समत्व सबके प्रति समान और व्यापक तथा उदार दृष्टि वाला होता है। भोग से ममत्व जागता है तो तप से समत्व आता है। तप अपने शरीर को तपाने का नाम है और तपाना उसे कहते हैं कि जिन इन्द्रियो के विषयो से आत्म-विस्मृति होती है, उन विषयों का त्याग करके आत्म-जागृति की दिशा मे बढना। ये विषय त्याग से छूटते हैं और त्याग की भावना से ही तप का आराधन होता है। जिस परिमाण में बाह्य और आन्तरिक तपों की साधना की जाती है, उस परिमाण मे विचार तथा दृष्टि मे समत्व की भावना प्रबल बनती है और उसी परिमाण मे वह भावना मनुष्य के कार्यों मे उतरती है। उसे समत्व कहे या समता—एक ही बात है। समता जब मन, वचन एव कार्य मे समाविष्ट हो जाती है तो वह व्यक्ति एक प्रकार से अपने स्वार्थों के घेरो से ऊपर उठ कर लोकहित की दिशा मे मुड जाता है। समभाव से इन्सान की जीवनी शक्ति प्रखर बनती है।

भोग और तप मे एक भेद और होता है। भोग का अन्त कभी सुखद नही होता जबकि तप का प्रारम्भ और अन्त सदा सुखद होता है। तप करते जाइये—करते जाइये—उसका फल और सुख असीम होता है। इस तप की साधना को आप थोडा-थोड़ा करके या धीरे-धीरे भी करेंगे, तब भी आपके जीवन में समत्व सधेगा और ममत्व हटेगा। तप से ही आत्मा का निखार खिलेगा कि परमात्मा के तुल्य अजरामर शक्तिया अंगड़ाई लेती हुई आपकी आत्मा का वरण करने लगेंगी।

मानव तप का अभ्यास करे :

समत्व की दृष्टि से तप के विभिन्न प्रकारों का अभ्यास मानव को करना चाहिये। एक छोटे से तप से भी मानव के जीवन मे महान् परिवर्तन

"जिस बात को सिर-पैर मूल-ठौर नहीं जानता, उस के सम्बन्ध में उस के द्वारा कुछ कहने की बात निरी मूर्खता नहीं तो और क्या ? मेरे पतिदेव के बारे में तुझे एक अक्षर भी बोलने का अधिकार नहीं। वे भाग्यवान् और बडे हैं। इस में भी कोई न कोई भला इरादा ही उन का होगा। अत उन का कोई दोष नहीं। दोष जितना भी है, सब का सब मेरे ही काले कर्मों का है।"

यूं अपनी सखी को डाट-डपट कर अंजना अपने महल में चली गई और धर्म ध्यान में लग पडी।

चकवा-चकवी का विरह-संवाद

उधर चलते-चलते जब रात होने आई, कुमार ने मार्ग में डेरा डाला। अभी-अभी भोजन आदि से निवृत्त होकर बिस्तर पर वे लेटे ही थे कि इतने ही में किसी चकवा-चकवी का विरह-सवाद उन्हें सुन पड़ा। उन्हों ने अपने मन्त्री से पूछा—

"मन्त्री ! ये चकोर दम्पत्ति इस समय दुखित क्यों हो रहे हैं ?"

"कुमार ! दिन भर तो ये दोनों पति और पत्नी एक ही साथ रहते हैं, परन्तु रात होते ही इन में जुदाई हो जाती है। बस ! केवल उसी दुख से ये इतने दुखी हो रहे हैं। केवल इतनी ही देर की जुदाई भी पहाड के समान प्रतीत हो रही है।" मन्त्री बोला।

'पक्षी से भी हीन ?' : पवनजय के विचार

मन्त्री के अन्तिम शब्दों ने राजकुमार की छाती में छेद कर दिया। वह बोला—

"तब अजना ने पूरे बारह-बारह वर्ष की जुदाई का महान कड़ा कष्ट काटा कैसे होगा ? मैं तो परिन्दों से भी गये बीते विचार का व्यक्ति हू, जिस ने भूले भटके विवाह के बाद आज तक भी अंजना

इस जिह्वा को सम्हालिये

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती........"

किसी विशेष गन्तव्य स्थल की तरफ जब चरण चलते हैं तो उन चरणों की गति बाधारहित हो—इसके लिये इधर-उधर, आगे पीछे दृष्टिपात कर लिया जाता है। चारो ओर की स्थिति देख लेने के बाद गति तीव्र बन जाती है। यह तो बाहरी जीवन की सावधानी की बात है। किन्तु जब आन्तरिक जीवन को किसी दिव्य लक्ष्य के प्रति गतिशील बनाना हो तो वास्तव मे उस साधक को कितनी अन्वेषक सावधानी तथा कितनी पैनी व चौमुखी दृष्टि रखनी चाहिए—इसका सहज ही मे अनुमान लगाया जा सकता है। चहुमुखी सतर्क दृष्टि के साथ ही एक साधक अपने पवित्र लक्ष्य की उपलब्धि कर सकता है।

आत्मा की परम पवित्रता एवं सहजता की उपलब्धि सरल नहीं होती है। उसकी प्राप्ति मे जीवन की समग्र शक्तियों को जुटाना पडता है। उन शक्तियों की इस कार्य मे सलग्नता तभी सम्भव होती है, जब वे अपने वर्तमान कार्यों से विराम ले लें। वहा से वे हटें और इस काम मे लगें, तभी पवित्रता की प्राप्ति हो सकती है। वास्तव मे आन्तरिक शक्तियो का प्रवाह तो प्रति समय सरिता की तरह प्रवाहित होता रहता है, वह कहीं विराम नही लेता। प्रवाह की गति चलती रहती है, लेकिन देखना यह होता है कि वह प्रवाह निरर्थक रूप से या विनाशकारी रूप से बह रहा है अथवा जन-जीवन के कल्याण का कारण भी बन रहा है? उद्गम स्थान से एक नदी निकली और वह निरुपयोगी स्वरूप लिये सीधी समुद्र में जा मिली तो उस नदी का कोई महत्व नहीं आका जाता है। कारण, उस नदी का पानी उद्गम स्थल पर मधुर था, बीच मे भी वह स्वच्छ बना रहा किन्तु अन्त में जब वह पानी

"वसन्त तिलके ! जरा जबान को सम्भाल कर बोल ! तू अपने कर्त्तव्य का पालन कर रही है, यह ठीक है, परन्तु एक बार इधर आ और देख कि स्वय कुमार ही तेरे दरवाजे पर आ कर खड़े हुए हैं। आज वर्षों की तुम्हारी स्वामिनी की साधना सफल हुई। तू दरवाजा खोल !" मन्त्री ने बात समझाते हुए प्रत्युत्तर दिया।

मन्त्री की बोली पहचान कर वसन्ततिलका ने उसी समय महल का दरवाजा खोल दिया और कुमार को अपने सामने खड़ा हुआ देखा। उस ने कुमार का समुचित स्वागत किया और बोली—

"महाराज ! मेरी स्वामिनी श्रीमती अंजनाजी अभी सामायिक में बैठी हुई हैं। वे अभी-अभी उठ ने ही वाली हैं। आप जरा ही ठहरिये। और विराजिये !"

पवनजय-अंजना-मिलन

सामायिक के पूर्ण होते ही सखी के सन्देश देने पर अजनाजी पति-दर्शन के लिए उत्कठित और प्रेम-विभोर हो कर उठ दौड़ी और आकर पवनजयकुमार के पैरों में गिर पडी। कुमार आखिरकार एक वीर राजकुमार थे। सती के इस बर्ताव से उन का कठोर हृदय उसी समय पानी-पानी हो गया। वे अब अधिक समय तक अपने-आप को न संभाल सके। प्रेम के आंसुओं से उन की आखें डब-डबा गई।

"अंजना ! तू साक्षात् देवी है !"

वीर-पत्निया अपने पतियों की छाया-रुप होती है। तब तो अजना का भी वही हाल हुआ। दोनों के प्रेमातिरेक से कठ भर आये। यूं कुछ देर तक वो परस्पर बोल तक न सके। अन्त में सहसा कुमार अवरुद्ध कंठ से बोल ही पड़े —

कि एक इन्जीनियर नदी के प्रवाह को बाध कर बाध बनाता है तो उस रीति से मानव भी शक्तियो के बाध से विकासकारी सद्‌गुणों की सिंचाई कर सकता है और दिव्य स्वरूप रूपी विद्युत् का उत्पादन कर सकता है। मानव इन संचित शक्तियो से जन-मानस के शुष्क उद्यानों को हरीतिमामय बना सकता है। जन समुदाय का मानसिक धरातल दिन प्रति दिन शुष्क एवं विकृत होता जा रहा है, क्योकि उसमे संसार समुद्र के खारे पानी के पुट हर वक्त लगते रहते हैं, इस कारण यदि एक साधक अपने जीवन को समर्पित बना कर साधनो में जुट जाय—अपने जीवन के मधुर प्रवाह को संसार समुद्र के खारे पानी में न मिलने दे तो वह उस समर्पित जीवन से न सिर्फ अपनी ही आत्मा का उच्चतम विकास साध सकेगा, बल्कि लोकहित को भी सदिच्छापूर्वक सम्पादित कर सकेगा। उसका प्रणिधान भी इससे शुद्ध बनेगा।

आत्मिक प्रवाह के माधुर्य की रक्षा :

आत्मिक शक्तियो का प्रवाह संसार समुद्र के खारे पानी में न मिले और अपने माधुर्य की रक्षा करते हुए प्रवाहित हो सके—इसके लिये ज्ञानीजन ने तपाराधन का उल्लेख किया है। इन्द्रियो के क्षार-विकार को नष्ट करता हुआ तप इन आत्मिक शक्तियो को स्वच्छ एव मधुर बनाये रखता है। तप ही एक ऐसा साधन है जिसके ताप से जीवन मे रहे हुए दूषण नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि व्यवहार पक्ष मे पानी के अन्दर रहे हुए विकारी तत्त्व ताप आत्मिक शक्तियो के मैल को नष्ट करके उनके स्वरूप को निखार देता है। निर्विकारी या निर्मल जल जैसे जीवन के लिये स्वास्थ्यकर और हितकर होता है तथा इसी कारण जल का एक नाम जीवन भी है, उसी प्रकार विवेकपूर्ण किया गया तपाराधन बाह्य एव आन्तरिक जीवन के विकास के सभी द्वार खोल देता है। तप आत्मिक प्रवाह के माधुर्य की सदा-सदा के लिये रक्षा का सशक्त साधन होता है।

जीवन की आन्तरिक धारा को पवित्र बना लें तो उसके बाह्य स्वरूप मे भी एक पवित्र नवीनता जन्म ले लेती है तथा आन्तरिक धारा को पवित्र बनाने के लिये यथाशक्ति बारह प्रकार के तपो में से सभी या किन्हीं तपो का आराधन आवश्यक है। तप की अग्नि के माध्यम से जीवन के प्रवाह मे प्रविष्ट ।रों को समूल नष्ट करें तथा आत्मा के स्वरूप को निखारें—यह प्रत्येक के सर्वाधिक अभीष्ट उद्देश्य होना चाहिये।

प्रतिसलीनता नामक तप के सन्दर्भ में जो इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता पर

पवनजय : फिर पड़ाव पर

तब कुमार ने वैसा ही किया और अजना ने दोनों वस्तुओं को प्राणनाथ की ओर से देनगी के रूप में पा कर अपने भाग्य को सराहा। बदले में प्रेम-पुलकित हो भगवान से उन के विजय-लाभ की मगल-कामना करते हुए अजना ने अपने पति-देव को समर-भूमि की ओर प्रस्थान कर ने के लिये विदा दी और शीघ्र ही लौट कर पुन' दर्शन दे कृतार्थ कर ने की प्रार्थना उन से की। तब कुमार अपने मन्त्री को साथ में ले वायुयान पर चढ बैठे और शीघ्र ही अपनी सेना के पडाव में जा पहुँचे।

अंजना का गर्भ : सासू द्वारा तिरस्कार

इधर कुछ महिनों के बाद जब अजना की सासू उस के महल में आई तो अंजना की रूप-रेखा कुछ गर्भवती सी देख सिर से पैर तक आग-आग हो गई। वह अपने सिर को घुनती हुई बोली—

"अरी कुलटा! तू ने इस पवित्र कुल को कलंकित कर दिया! अरी! इस प्रकार के दुराचरण के सेवन से तो तेरे लिये मर जाना ही लाख-लाख बार भला था। यू कर के तूने अपने पिता और अपने पति दोनों कुलों को दिन दहाडे दाग लगा दिया।"

यूं अनेकों प्रकार की ऊची-नीची बातें जब अजना को वह सुना ने लगी, तब पति-देव के द्वारा देनगी के रूप में प्राप्त वस्तुओं को अपनी सासू के आगे उस ने ला धरा।

इस पर तो सासू और भी झल्लाई और उछल कर बोली—

"कुलटा! ऊपर से यह चोरी भी? शर्म नहीं आती? चोरी के द्वारा अपने सतीत्व की सफाई तू दे रही है? चल! भाग!! निकल जा, इसी क्षण मेरे घर से तू!!! मेरे घर में ऐसी कुलटाओं का काम

"प्राण जाय पर वचन न जाई" की कहावत से वचन का महत्त्व स्पष्ट होता है कि कई बार पराक्रमी और पुरुषार्थी लोग एक बार निकाले गये वचन की रक्षा मे प्राणो की बाजी तक लगा देते हैं। यही वचन शक्ति जिनकी काबू मे नहीं होती है उनके लिये यही कहा जाता है कि उनकी जीभ तो गाडी के पहियो की तरह घूमती रहती है। वे आदर के पात्र नहीं होते हैं।

स्वाद और वचन के रूप मे जिह्वा की शक्ति का जो प्रवाह बहता है, उस प्रवाह के माधुर्य की रक्षा को प्रत्येक मनुष्य यदि अपना पावन कर्त्तव्य माने तो ससार की बहुतेरी अधार्मिक प्रवृत्तियां तो स्वत ही समाप्त हो जाती हैं। जिह्वा के इस शक्ति-प्रवाह को भलीभांति समझने की आवश्यकता है और फिर यह देखने की आवश्यकता है कि यह प्रवाह अभी जिस दिशा मे वह रहा है—क्या वह दिशा इस शक्ति प्रवाह के दुरुपयोग की दिशा है अथवा सदुपयोग की दिशा ? जब दिखाई दे कि यह शक्ति प्रवाह दुरुपयोग की दिशा मे बढ रहा है एवं आत्म-विकास तथा लोकहित को प्रतिबाधित कर रहा है तो उसे सदुपयोग की दिशा में मोडने का साधन रसना इन्द्रिय विषयक प्रति-संलीनता का तप मुख्य रूप से है और तब इस तप की सम्यक् प्रकार से आराधना का संकल्प बनना चाहिये।

जिह्वा के व्यापार और प्रतिसंलीनता तप :

इस जिह्वा सम्बन्धी जितने भी व्यापार हैं, उनमें से कौन-कौन से व्यापार ग्राह्य और कौन-कौन से व्यापार त्याज्य है—इसका विज्ञान पहले किया जाना चाहिये। त्याज्य व्यापारों पर सयम और ग्राह्य व्यापारो का आराधन—फिर जीवन का क्रम बनना चाहिये। इस जिह्वा से अनोखी तप साधना साधी जा सकती है। यदि जिह्वा पर नियन्त्रण साध लिया जाय तो जीवन के अधिकाश विकारो को समाप्त किया जा सकता है। रसना इन्द्रिय के प्रति साधे जाने वाले प्रतिसलीनता तप का तात्पर्य यह होता है कि जिह्वा की स्वाद एव वचन शक्तियों को उनके दुरुपयोग से बचाना तथा उनके सदुपयोग के मार्ग खोलना। निरन्तर यह तप करने का अर्थ होगा कि स्वाद एवं वचन शक्तियों के सदुपयोग के प्रति निरन्तर सतर्कता बरतना। यह तप इन शक्तियों के दुरुपयोग की भावना को ही नष्ट कर देता है तथा इनके सदुपयोग के क्षेत्र को अधिकाधिक व्यापक बनाता रहता है।

वचनों के प्रवाह से मानवीय जीवन की बहुत बडी शक्ति बाहर प्रस्फुटित होती है। अन्य इन्द्रियों की स्थिति से अन्तर्भावना का स्रोत जितना

"है कोई हाजिर ? जाओ। रथ में बिठा कर अजना को इसी घडी उस के मायके पहुँचा दो।"

वह इतना कर के चुप न हो रही। उस ने काले वस्त्र भी मंगा कर अजना को पहना दिये। जिस से दर्शक लोग दूर ही से उसे देख कर यह जान सकें, कि यह अपमानित कर के निकाली गई है। रथवान ने रथ को ला कर खडा कर दिया। इशारा पाते ही सारथी ने अंजना और उस की दासी वसन्ततिलका को रथ पर चढा लिया और उन्हें महेन्द्रपुर की ओर ले चला। मार्ग में एक बड़ा ही बीहड बन पडता था। अभी महेन्द्रपुर बहुत दूर था। परन्तु वहीं से उस की दिशा की ओर इशारा करते हुए सारथी ने उन दोनों को अपने रथ से नीचे उतार दिया और रथ को वापिस रत्नपुरी की ओर वह लौटा लाया।

विचारों के ज्वार-भाटे

उस सुनसान और बीयावान वन में उन दोनों अबलाओं का अकेला रह जाना, अंजना को यम-यातना के समान अखरा। उस समय उस के हृदय में अनेकों भांति के विचारों के कितने ही भयकर ज्वार-भाटे उठ ने लगे। कभी वह सोचती—

"हाय! आज से पहले जब कभी भी महेन्द्रपुर को मैं गई हूं, सैकड़ों दास-दासी, रथ, घोडे और हाथी मेरे साथ होते थे। मेरे लिए तो उत्तमोत्तम सवारियां होती ही थी। परन्तु मेरे दास-दासियों तक के लिए भी बढिया-से-बढिया सवारियों का आयोजन रहता था। हा हन्त! वे बातें मुझ अभागिनी के लिए आज केवल स्वप्न सी हो रही हैं। इस बीयावान वन में आज इस वसन्ततिलका के सिवाय मेरा और कोई सहायक नहीं है। वह भी काली ड्रेस (वेश-भूषा) और नगे पैरों पैदल चल कर अपने पिता-माता को मैं अपना मुँह भी तो कैसे दिखा सकूंगी।"

है; यह दोनों दिशाओं में होता है । जब कोई किसी के प्रति कल्याणकारी शब्दों का प्रयोग करता है तब भी वह अपनी सहृदय अन्तर्शक्ति की सहायता से सुमधुर शब्दों का चयन करता है और अतीव स्नेह व सहानुभूति के साथ उनका उच्चारण करता है । शक्ति का व्यय अकल्याण के शब्दों मे भी होता है और कल्याण के शब्दों में भी, किन्तु इस व्यय का प्रभाव और परिणाम सर्वथा विपरीत होता है ।

वचन शक्ति के विकार के रूप मे जब अकल्याणकारी वचनो का प्रयोग किया जाता है तो उसके पहले और बाद मे दोनो बार आत्मा कलुष-पूर्ण वृत्तियो से काली बनती है तथा वह विकार अपने आपको तथा दूसरों को—सबको दुःखी बनाता है । दूसरी ओर वचन शक्ति का स्वस्थ विकास साधा जाय और शक्ति का व्यय कल्याणकारी वचनो के प्रयोग मे किया जाय तो आत्मा मे उस प्रयोग के पहले और बाद मे सद्वृत्तियां जागती हैं तथा अनोखे आत्मानन्द की अनुभूति होती है । यही शक्ति के विकार और विकास का अन्तर है ।

इसलिये वचन शक्ति के विकास की दृष्टि से इन्द्रिय-प्रतिसलीनता तप के अनुसार वाणी को सदाशय, मधुर एवं हितावह बनाने की आवश्यकता है । वाचिक शक्ति पर सयम रहना चाहिये इस विवेक के साथ कि आवश्यकता के अनुसार कितने और कैसे शब्दो का प्रयोग करें तथा आवश्यकता नहीं हो तो इस शक्ति का अपव्यय नहीं करें । एक व्यक्ति पॉवर हाऊस से बिजली लेता है तब उसके उचित व्यय का पूरा ध्यान रखता है—बिना प्रयोजन के उस बिजली को खर्च नही करता है । वह आवश्यकता होने पर ही बिजली का बटन दबाता और बल्ब जलाता है । इसी प्रकार जीवन—शक्तिया रूपी विद्युत्-व्यय के सम्बन्ध मे भी पूरी सावधानी की आवश्यकता होती है । वचनों का आवश्यकता के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिये । उन वचनो मे घृणा और राग-द्वेष के शब्द नहीं हों, कर्कश और अहितकारी उच्चारण नहीं फूटें तथा मर्मभेदन एव सघर्ष का प्रसग उपस्थित नही होवे । इस सावधानी के साथ अगर जिह्वा के शक्ति-प्रवाह का प्रयोग किया जाय तो उसके विकार नष्ट होगे तथा उसका निरन्तर विकास होगा ।

जिह्वा के सदुपयोग का मार्ग :

प्रतिसलीनता तप का आराधन जिह्वा के सदुपयोग का मार्ग होता

पानी तक नहीं पी सकती। यह वेटी नहीं, अपने पिता और ससुर दोनों के वंशों को दाग लगाने वाली है। नारी का रूप धारण न कर अच्छा होता यह कोई कीडा-मकोडा ही वन जाती।"

राजा महेन्द्र ने क्रोध एवं दुख भरे स्वरों में आज्ञा दी।

'है वनी-वनी के सब साथी···'

राजा महेन्द्र ने भी सती साध्वी किन्तु दु:ख की मारी अंजना को ससार ही की आखों से देखा, ससार ही के कानों सुना और उसे सचमुच में दुराचारिणी जान कर ससार के ही समान कठोरतम व्यवहार भी उस के साथ किया।

सच है, आडे दिनों में कोई किसी का साथी नहीं होता। अजी और तो और चौबीसों घण्टे सदा-सर्वदा साथ में बनी रहने वाली मनुष्य की छाया तक रात के घने अन्धकार में उस के शरीर से न मालूम कहा गायब हो जाती है ?

राजा महेन्द्र की मर्यादा : अंजना को आदेश

अपनी मान-मर्यादा पर अकस्मात् होने वाले इस कुठाराघात से महेन्द्र के मन को बडी भारी ठेस लगी। अपनी छाती में उन्हों ने एक मुक्का बड़े जोर से मारा और दुखित हो कर धडाम से धरती पर गिर पडा।

कुछ ही देर के पीछे जब राजा को होश आया, वह बोला—

"दरबान! तू अभी तक यहा खड़ा कैसे है ? क्या वह अभी तक नहीं गई ? मैं अब उस की एक भी बात अपने बहरे कानों तक से सुनना नहीं चाहता। जा कर जल्दी से जल्दी उसे यहा से रवाना कर।"

द्वारपाल ने आकर अंजना से कहा—

बच्चों को देती हैं तो क्या यह घोर असंस्कारिता और जिह्वा शक्ति का भयंकर दुरुपयोग नही है ? एक बार का प्रसग है, एक बहिन ने अपने बच्चे को डरा दिया कि वह नही मानेगा तो उसे भूत पकड लेगा। बच्चे ने शरारत तो बन्द कर दी, मगर डरा-डरा सा रहने लगा। एक दिन उसके पिता ने अन्दर के कमरे से कोई चीज लाने को बच्चे को कहा तो उसने लाने से मना कर दिया कि वहा तो भूत है। पिता का ज्ञान गम्भीर था। उन्होने भय के इस कुसंस्कार का पता लगाया तो अपनी स्त्री को बुरा-भला कहा किन्तु वे जानते थे कि बच्चे के मन मे पिता की अपेक्षा माता का विश्वास अधिक होता है—इस कारण बच्चे के भय को युक्ति की सहायता से ही निकालना पडेगा। पिता ने बच्चे को कहा कि तुम्हारी माता ने भूत तो बताया लेकिन भूत को पकडने का मन्त्र नही बताया—मैं तुझे वह मत्र बताता हू। इसे बोल कर कही भी चले जाना कभी भी भूत दिखाई नही देगा। बच्चे मे अविश्वास नही पैदा किया गया तो उसने अपने पिता के वचन पर भी विश्वास कर लिया। वह मत्र बोल कर कही भी चला जाता—भूत तो नही दिखाई देना था सो दीखने की स्थिति पैदा होती ही नही। इस तरह जिह्वा के दुरुपयोग और सदुपयोग का रूपक आप माता और पिता के वचनो से भलीभांति समझ सकते हैं।

जिह्वा-तप में विवेक का स्थान :

जिह्वा के प्रति किये जाने वाले प्रतिसलीनता के तप मे विवेक का प्रमुख स्थान होता है। विवेक होगा तो जिह्वा की शक्ति का अधिक से अधिक सदुपयोग हो सकेगा और विवेक के अभाव मे दुरुपयोग ही दुरुपयोग है। माताएं विवेक नहीं रख कर जिह्वा का जो दुरुपयोग करती हैं, उससे बच्चो के सस्कार तो वे बिगाडती ही हैं किन्तु स्वय भी अपने लिये कर्मों का बन्धन करती हैं। ऊपर की कहानी मे आपने देखा कि पिता ने अपने वचन प्रयोग मे विवेक को सर्वोपरि स्थान दिया तो तरकीब से उन्होने बच्चे के भय भरे कुसंस्कार को मिटा दिया। रसना इन्द्रिय की कुपथगामिता को रोकने के लिये आपको प्रतिसलीनता के तप का नियमित रूप से अभ्यास करना चाहिये ताकि इन्द्रिय-दमन की शक्ति का पूर्णतया विकास हो सके।

माताओ और बहिनों को बडी-बडी अनशन तपस्याएं करने का बड़ा चाव रहता है और इसके लिये मैं उनका धन्यवाद करता हू, परन्तु मैं उनको यह विवेक दिलाना चाहता हू कि वे केवल अनशन को ही तप न समझें तथा

"महारानीजी ! वे अंजनाजी तो ड्योढी ही पर आ कर खड़ी हैं। आपकी आज्ञा भर ही की देरी है ।"

"ड्योढीवान ! क्या वेटी अजना के लिए अन्त'पुर में आने की आज्ञा नहीं ?"

"महारानीजी ! आज वे काली वेश-भूषा में हैं। जो भी केवल एक ही दासी के साथ और पैदल ही पैदल चल कर वे यहां तक आई हैं।"

माता ने धक्के दिये

महारानी इस कथन को सुन कर सहम सी गई और रंगत जर्द हो गई। उस ने अपने पति के समान ही पुत्री का निरादर करते हुए सैंकड़ों भली-बुरी बातें उसे सुनाई और कटार लेकर आत्महत्या करने को उतारू हो गई। सेवकों ने लपक कर महारानी का हाथ पकड़ लिया और आत्मवध करने से उसे हटक दिया। तब महारानी के हुक्म से अंजना को सेवकों के द्वारा धक्के लगवा कर वहां से उसी समय निकलवा दिया गया।

अब तो अजना के धीरज का बाध टूट गया। वह वहां लाख रोई-चिल्लाई, परन्तु उस समय वहा उस की सुनने वाला था ही कौन ?

कहीं ठौर नहीं !

बेचारी दुर्दिन की मारी रोती-बिसूरती हुई अपने भाई-भौजाईयों के निकट शरण पाने के लिये गई। वहा भी उस के साथ वैसा ही कठोर और घृणा का व्यवहार हुआ। भौजाईयों की तानाकशी ने तो जले पर और भी नमक छिड़कने का काम कर दिया। हा हन्त ! दैव भी दुर्बल ही का घातक होता है। तब तो चारों ओर से बीसों-विश्वा निराश हो कर वह अपनी दासी के साथ जगल की ओर निकल पड़ी और चली-चली वह एक बीयावान और सुनसान जगल में निकल आई।

ले जाता है। इसके साथ ही उसका प्रणिधान भी अशुद्ध हो जाता है जिस कारण उसके आत्म-विकास की दिशा सदा धूमिल बनी रहती है।

तपाराधन पर यदि गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया जाय एव अपनी क्षमता तथा योग्यता के अनुसार अपने वर्तमान जीवन की दृष्टि से विशेष रूप से आवश्यक तप के प्रकार पर आचरण किया जाय तो इस आत्मा को पतित बनाने वाले विकारो को नष्ट किया जा सकता है तथा विकास के मार्ग को निष्कटक बनाया जा सकता है। आप यदि इस जिह्वा पर ही कन्ट्रोल रखने का अभ्यास बनालें तो समझिये कि आप अपने समूचे जीवन पर नियन्त्रण रख सकने की क्षमता का निर्माण कर लेंगे।

उपदेशों को जीवन में उतारें :

आपको सन्त लोगों के उपदेश श्रवण करने का अवसर मिलता रहता है, किन्तु यदि उन्हें अपने जीवन मे आप नहीं उतारें तो फिर उस श्रवण की क्या सार्थकता है ? शास्त्रो की बातें सुनते हुए भी आप परतन्त्र क्यों बने हुए हैं ? इन्द्रियो की परतन्त्रता को दूर करने तथा आत्म-शक्तियो को स्वतन्त्र बनाने के लिये कम से कम अपने सभी रूपों मे इस प्रतिसलीनता के तप का आराधन अवश्य आरम्भ कर दें। आत्मा के अधीन इन्द्रियां होनी चाहिये, लेकिन यह स्वाधीनता आत्मा को तपाराधन से ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि भोग-प्रधान जीवन होने के कारण आत्मा इन्द्रियो के ही अधीन बनी रहती है।

इस तप की आराधना जितनी एकाग्रतापूर्वक की जायगी, उतना ही आपका जीवन प्रामाणिक निर्मल और मधुर बनेगा। तब आप अपने शत्रु को भी गलत राय नहीं देंगे बल्कि किसी के लिये भी अहितकारी कल्पना तक नहीं करेंगे। वचन के तप की दृष्टि से मौन व्रत का भी बहुत बड़ा महत्व होता है, किन्तु इस मौन व्रत मे भी कल्याण कामना प्रधान रहनी चाहिये। जिसके जीवन मे तप का ताप पहुचता है, उसके कर्मों की निर्जरा होकर आत्म-शुद्धि का प्रसग बनता है। अनशन तप की पचरगियों के साथ अन्य तपो की पंच-रगियां भी करना सीख लें तो मन व आत्मा तपेंगे तथा उनका स्वरूप उज्ज्वलता से प्रकाशित होगा।

—भीनासर
०-११-७२

नहीं जाता। गर्भकाल में भावनाओं की पूर्ति होनी चाहिये। परन्तु आज तो रूखी-सूखी रोटी तक का मिलना दूभर हो रहा है। आज कितने ही दिन बिना रोटी खाये बीत गये ?"

यूं भाति-भांति के विचार करते हुए पडौस की एक गुफा में उस ने प्रवेश किया।

एक खुशी : एक उच्छ्वास

अजना के उत्कृष्ट सत्य और शील के प्रभाव से वन रक्षक देव उस की सहायता तथा रक्षा कर ने लगा। वहीं चैत्र कृष्णा अष्टमी शनिवार के दिन अंजना ने अपनी गोदी की शोभा एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र-रत्न को देख माता का मन बाग-बाग हो उठा। परन्तु कुछ ही देर में एक लम्बी उच्छ्वास उस ने ली और मन ही मन कहने लगी—

"मेरे इस बाल का जन्म आज यदि इस के पिता की मौजूदगी में अपने ही राज्य की सीमा के अन्दर हुआ होता, तो न जाने खुशी के कितने-कितने नक्कारे आज बजे होते। किस समारोह के साथ इस का जन्मोत्सव आज मनाया जाता ? कितनी बधाइया आज आई होतीं ?"

अंजना का भाग्य

यूं जिस-तिस तरह से अपने दिल को दिलासा देते हुए अपने बालक के अनुपम रूप-सौंदर्य को देख-देख कर वन के फूल-फलों से तथा कन्द-मूलों के आधार पर पूरे बीस दिन उस ने वहीं बिता दिये। अजना का भाग्य अब करवट बदल चुका था।

दो में से एक : लोह-चुम्बक या दुखित-आह ?

बीसवें दिन अनायास ही अंजना के मामा सूरसेनजी विमान में

शक्तियों के सिंचन की दिशा :

आत्म-शक्तियों का सिंचन तो चलता ही रहता है । जब वे शक्तिया भोग्य पदार्थों को सींचती है—अपनी शक्ति उन्हे प्राप्त करने मे लगाती हैं तो उनके सिंचन की दिशा भोग प्रधान बन जाती है । उस सिंचन का क्षेत्र यह ससार होता है । आत्मिक दृष्टि से इसे हम शक्तियो का अपव्यय कहते हैं क्योकि मूलत ये शक्तिया आत्मा का स्वरूप निखारने मे नियोजित की जानी चाहिये । इन शक्तियो के सिंचन की दिशा आत्म-विकास की दिशा हो तथा इस सिंचन का क्षेत्र आत्मिक धरातल—तभी इन शक्तियो का सिंचन सार्थक कहलाता है । इस कारण इन शक्तियो की क्रियाशीलता को ससार के क्षेत्र से हटा कर आत्मा के धरातल पर लगाने की आवश्यकता होती है । इसके साथ ही शक्तियो के सिंचन को सम्यक् ज्ञान का पुट दिया जाना चाहिये ।

किसी भी फसल को पकाने के लिये केवल सिंचन से ही काम नहीं चलता, उसी प्रकार आत्म-विकास की पकी हुई फसल लेने के लिये भी भूमि चाहिये, खाद चाहिये और सिंचन भी चाहिये । आत्मिक फसल के लिये सम्यक् ज्ञान का सिंचन, सम्यक्-श्रद्धा की भूमि तथा सम्यक्-चारित्र्य का खाद अपेक्षित होता है । सच्ची-श्रद्धा की जमीन पर चरित्र की खाद बिछा दी जाय और उसमे आत्म-विकास का बीज वपन करके ज्ञान के पानी का सिंचन किया जाय तो वहा परम शान्ति के कल्पवृक्ष का अकुर विकसित हो सकता है । चारित्र्य साधना मे पहले से बढा हुआ अशान्ति का विष वृक्ष स्वत ही सूखकर नष्ट हो जाता है । इस पौधे के नष्ट होने का नाम ही कर्मों की निर्जरा है । कर्मों की निर्जरा करने से ही आत्मा इस अशान्ति के धरातल पर से हट सकती है । एक तो स्वत हटे और एक हटाया जावे—कर्मों की दृष्टि से इसमे भी अन्तर पडता है । हटाये जाने मे कोई अपने अवरोधो को अपने पुरुषार्थ से हटाता है—अपने पिछडे संस्कारो को हरा कर आगे बढ़ता है । एक तरह से वह अपनी नीव जमा कर जाता है और पिछले स्थान को छोड़ कर विवेकपूर्वक अग्रसर बनता है । किन्तु जो स्वयं हटता है, वह अपना स्थान पूरी तरह से छोड नही पाता है । वह अपने आप मे सहसा नष्ट नही होता है । इस आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का भी यही हाल होता है ।

कर्मों की निर्जरा की स्थिति :

कर्म शुद्ध आत्मा के साथ चिपके नही रहते । जब से आत्मा के कर्म चिपके हैं, वे अपना स्वभाव और अपनी अवधि लेकर चिपकते हैं । ये कर्म

को नीचे उतारा और वहा जा कर देखा, तो बालक के शरीर की चोट से, जिस शिला पर वह गिरा था, चूर-चूर हो गई है और उसी के समीप पडा हुआ बालक आनन्द पूवक हाथ-पैर हिला-हिला कर खेल रहा है।

हनुमान : बालक का नामांकन एवं आशीष

सूरसेन ने अपने तथा अजना के भाग्य को सराहा। उसे उठा कर अंजना के हाथों सौंप दिया और कह ने लगे—

"बेटी! जान पड़ता है यह बालक तो बड़ा ही भाग्यशाली और पराक्रमी योद्धा निकलेगा। इस ने अपने बाल शरीर ही से शिला तक को चूर-चूर कर दिया। फिर इस गाव का नाम 'हनुपाटन' है। इन दोनों कारणों से मैं इस परम-सुन्दर और पराक्रमी बालक का नाम भी 'हनुमान' ही रखता हूं। बेटी! यह तेरा लाल युग-युग जीवित रहे और अपनी माता तथा पिता दोनों के कुलों का ससार में मुख उज्ज्वल यह करता रहे।"

यूं कह कर उन्हों ने विमान को आगे बढाया। थोडी ही देर में विमान हनुपाटन में पहुच गया। अब तो अंजना के दु ख के दिन टल गये। वह वहा अपनी ननिहाल में सानन्द रह ने लगी।

पवनजय : युद्ध में विजयी

उधर कुमार पवनजय शत्रु को पछाड और रणांगण से विजय-लक्ष्मी को साथ ले कर घर लौटे। अपने पुत्र के विजय हो कर लौट ने के कारण उन के माता-पिता ने शहर में बड़ा ही आनन्द मनाया। कुमार भोजन को बैठे, तब उन की माता बोली—

"बेटा! अजना ने तो तुम्हारे पीछे अपने सती-धर्म को छोड़ अपने कुल को दाग लगा दिया। अत. मैंने उसे उस के माय के

धरातल पर आने वाली अशान्तिदायक कर्मों को चैतन्य-शक्ति अपनी जाग्रत-चेतना के साथ उठा कर बाहर धकेल दे। यह पुरुषार्थ कर्मों के बन्धन की प्रारम्भिक अवस्था मे ही कर दिया जाय जबकि वे न तो पल्लवित हुए हों तथा न विशेष आत्म-क्षति करने का उनका सामर्थ्य बढा हो। प्रारम्भिक अवस्था मे ही इन कर्मों की जडो को काट कर नष्ट कर देना ही आत्मा का सच्चा पुरुषार्थ कहलाता है तथा ऐसी ही निर्जरा सार्थक निर्जरा होती है। यही सकाम निर्जरा कहलाती है। सकाम निर्जरा मे इरादे से हटा जाता है और यह प्रक्रिया आत्मा की शुद्ध स्थिति मे ही सम्भव होती है। सकाम निर्जरा आत्मा की जाग्रति की भी प्रतीक होती है क्योकि आत्मा अपने पुरुषार्थ से उस समय उन कर्मों को नष्ट कर देती है जिस समय वे अपनी चिकनाई की शुरू की स्थिति मे ही होते हैं। जिस पौधे की जडें लगनी शुरू हो—उसी समय यदि उन जडो को काट दी जाय तो वह आसान भी होता है तथा जडो की पूरी सफाई भी हो जाती है। इस क्रिया से आत्मोन्नति का विवेकपूर्वक धरातल पुष्ट होता है।

अशान्ति का जड़-मूल से विनाश :

सकाम निर्जरा की प्रक्रिया से अशान्ति का जड मूल से विनाश हो जाता है क्योकि कर्मों को उनकी प्रारम्भिक अवस्था मे स्वयं के पुरुषार्थ एवं स्वय के विवेक से नष्ट किया जाता है, जिस कारण वहा नये कर्मो के बन्ध का प्रसंग नही रहता है। पुराने कर्म जब सकाम निजरा की प्रक्रिया मे नष्ट होते रहते हे और नये कर्मों का बन्ध नही होता है तो स्वभावत आत्मा का मैल हट कर उसका स्वरूप निखरता जाता है - अशान्ति हट कर शान्ति का सचार होता है। इसलिये सकाम निर्जरा की शक्ति यही है कि जिसमे कर्म-बन्धन बिल्कुल स्वल्प हो या नही के बराबर हो और पुराने कर्म ज्यादा से ज्यादा झडते जावें। सकाम निर्जरा की सम्भावना आत्मिक-शक्तियो के जाग्रत होने पर ही बनती है क्योकि इन शक्तियो के सिंचन को वर्तमान विकृत दिशा से हटा कर सकाम निर्जरा की दिशा मे जुटाना पडता है। इसके लिये चारित्र्य रूपी खाद की जरूरत पडती है। चरित्र साधना की सहायता से पुराने जमे हुए कर्मों को ढीला बनाया जा सकता है तो ढीले पडे कर्मों को उखाड-उखाड कर बाहर फैंका जा सकता है। इससे कर्मों की बीज शक्ति भी पुण्य के रूप मे बदली जा सकती है। जो कर्म अशान्ति का बाना पहिन कर आये थे, वे शान्ति के कारण बन कर हटते हैं।

अजना का पता उन्हें अभी तक कहीं भी न लग पाया।

अंजना : ननिहाल में मिली

तब तो वे सब के सब लोग अजना की ननिहाल में पहुचे। वहा अजना को आखों से देख-भाल कर उन्हें अपार आनन्द हुआ। घोर परिश्रम और प्रयत्न के पश्चात जब मनुष्य सफलता पा जाता है, तब अपनी सारी थकावट को वह बात-की-बात में भूल जाता है। वही बात अजना की खोज करने वालों के लिए भी हुई।

सूरसेनजी की प्रशंसा : पवनजय का पत्नी-प्रेम

अजना के मामा सूरसेनजी का सभी ने बड़ा भारी उपकार माना और अनेकों प्रकार से उन की खूब ही बड़ाई उन्हों ने की। अजना के जीवनाधार कुमार पवनजय भी उस से मिले-भेंटे। रोती-बिसूरती अजना भी उन के चरणों पर आ कर गिर पड़ी। कुमार ने उसे उठा कर सब प्रकार से पूरी-पूरी सान्त्वना दी और गद्-गद् कठ में उस से कहा—

"प्रिये। तुम्हारे ऊपर आने वाली सम्पूर्ण आपदाओं का मूल कारण मैं ही हू। मेरी ही गैर-मौजूदगी के कारण तुम्हारे ऊपर अनेकों प्रकार की आपदाओं के पहाड़ आ कर टूटते रहे। अजना! तुम साक्षात् देवी हो। इतना होने पर भी मुझ कृतघ्नी और क्रूर से अपने अपराधों की क्षमा-प्रार्थना तुम कर रही हो। यह तुम्हारी उदारता है। देवी! अब मत रोओ।"

यूं कुमार ने अंजना को सब प्रकार से पूरी-पूरी सान्त्वना दी। फिर कुछ काल तक वे सब लोग वहां बड़े ही सुख-पूर्वक रहते रहे

अंजना का आत्म-कल्याण

अन्त में अंजना और हनुमानजी को साथ में ले कर पवनजय

की आवश्यकता महसूस की गई है। एक विज्ञानवान् इन्जीनियर हो और उसके लिये अपने अवस्थान का निर्माण करने की साधन सामग्री हो। इन्जीनियर चैतन्य-शक्ति को समझिये जो एक जीवन समाप्त होने पर उस जर्जर शरीर को छोड देती है तथा नवीन जागरण मे आती है। नवीन शरीर को धारण करने की क्षमता वह अपने पास सम्पादित करके जिस योनि मे पहुचती है; उस योनि में तदनुकूल शरीर निर्माण करने की साधन सामग्री उसको उपलब्ध हो जाती है। प्रायः यही अवस्था मानव शरीर में रहने वाली आत्मा के साथ भी लागू होती है।

मानव जीवन की स्थिति के दृष्टिकोण के अनुसार वह आत्मा जन्म के प्रारम्भिक क्षणो मे रसप्रद द्रव्यो को ग्रहण करके एक अन्य शक्ति को भी पैदा करती है। वह शक्ति चैतन्ययुक्त भौतिक शक्ति होती है। इस पर भी उसको चैतन्य प्रधान होने की दृष्टि से चैतन्य शक्ति कह सकते हैं। शास्त्रो मे आये शरीर-रचना के विज्ञान के प्रसंग मे इसको आहार पर्याप्ति कहते हैं। आहार पर्याप्ति उस अवस्था का नाम है, जब माता के गर्भ मे वह दीर्घ आयुष्य वाली आत्मा वहां के पदार्थों को ग्रहण करके एक रासायनिक प्रक्रिया के माध्यम से छटनी करती है— खल भाग अलग और रस भाग अलग। इस विभक्तिकरण को आहार पर्याप्ति की सज्ञा दी गई है। उसके बाद शरीर-पर्याप्ति का क्रम है। यह शरीर का आकार नाक-नक्श के रूप मे तैयार करती है। इसी के द्वारा यथास्थान सभी इन्द्रियो तथा मन का निर्माण होता है। एक व्यक्ति जैसे किसी मकान का निर्माण कराना चाहता हो तो पहले वह नक्शा बना कर उस पर विभिन्न कमरे, खिड़कियां, दरवाजे, मजिलें आदि अकित कर देता है। वैसे ही यह भीतर का चैतन्य इन्जीनियर इस शरीर के समस्त अवयवो का पहले नक्शा बना लेता है। इस नक्शे का ही नाम शरीर पर्याप्ति है। पाचो इन्द्रियो आदि का यह नक्शा अन्तर्मुहुर्त मे तैयार हो जाता है। इसके बाद उनके विकास का प्रसग बनता है। इनमे यह त्वचा जो स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है—इसका निर्माण सबसे पहले होता है। इसका कारण यह है कि इसी त्वचा की छाया या रूपरेखा मे अन्य चारो इन्द्रियो का निर्माण होता है। यदि यह त्वचा रूप इन्द्रिय नही हो तो सारे शरीर और अन्य इन्द्रियो की कैसी जुगुप्सा भरी दुर्दशा दृष्टिगत होगी? कभी कोई अज्ञानवश अपने शरीर पर घासलेट डाल कर आत्म-हत्या के निमित्त से आग लगा लेता है और उस शरीर पर से त्वचा हट जाने के बाद उसकी कैसी दयनीय दुर्दशा देखने मे आती है? कहने का अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक दृष्टि से शास्त्रो मे शरीर रचना का जो विज्ञान बताया गया है, उसके अनुसार भी शरीर के लिये त्वचा का

फेर और दुर्भाग्य का कारण है। ऐसी-ऐसी अनहोनी बातें कर के हम अपनी सन्तानों के प्रति प्रेम का प्रदर्शन समझते हैं। पर सच पूछा जाय, तो ऐसा कर के हम अपनी सतानों का सर्वनाश कर रहे हैं। यही नहीं, हम मोह के चक्कर में फसे हुए नारकीय लोग अपने राष्ट्र को भी प्रबल वेग से पतन की ओर ले जा रहे हैं।

आज का जीवन : दवाओं की दूकान

हमारी इस सत्यानाशक बाल-विवाह की कुप्रथा से राष्ट्र की जवानी का एकदम लोप-सा हो चुका है। बालपन के बाद ही बुढ़ापा आ घेरता है। इसी ब्रह्मचर्य-धर्म के नाम से हमारे शरीरों में भांति-भांति के जहरीले रोग-रूप घुन लग गये हैं। हम बारहों महीने और बत्तीसों घडी बीमार बने रहते हैं। सच पूछो, तो आज हमारा जीवन एकमात्र औषधियों के आधार ही पर टिका हुआ है। या यूं कहो कि इन औषधियों के सेवन ने हमारे पहले के सुन्दर और सुदृढ शरीरों को आज केवल अत्तार की दूकानें मात्र बना रक्खा है। यही कारण है कि देश की गली-गली में वैद्य, डाक्टर और हकीमों की आज धूम-सी-मच गई है। हमारे पाप और अज्ञानता के कारण हमारी गाढ़ी कमाई का अधिकाश भाग आज उन्हीं की जेबों में जा कर खन-खना रहा है।

कुप्रथाओं की प्रबलता : कब्र में पैर

हमारे शरीरों के साथ-साथ हमारा मन भी दुर्बल, द्वेषी, चिड़-चिड़ा, अनाचारी और अत्याचारी बनता जा रहा है। तब देश की दशों दिशाओं में वकील और बैरिस्टरों की क्यों न खूब ही बन पड़े? हम ही लोग तो बढ-बढ कर उन के पेशे और उन की सख्या में बरसाती नदियों की स्थायी बाढ़ ला रहे हैं। यूं जब हम ही कब्र में पैरों को लटका कर मौत को पास बुला रहे हैं, तब मौत बेचारी क्या करे?

किन्तु उसका स्थान इन्द्रियों से पृथक् रखा गया है । पांचों इन्द्रियां अलग तौर से गिनाई गई है । आंखें और कान दो-दो हैं और नासिका के छिद्र भी दो हैं, लेकिन उनका विषय एक-एक ही है । जिह्वा और त्वचा भी एक-एक ही कहलाती है, परन्तु इनका विषय-क्षेत्र विस्तृत होता है । इन सबके भीतर सयोग मे रहने वाला और पांचो इन्द्रियो के साथ समभाव से व्यवहार करने वाला एक तत्त्व (इनमेटर) है, वही मन कहलाता है । इसी कारण इसको अतीन्द्रिय भी कहते हैं । यह मन द्रव्य मन कहलाता है । इससे भी अधिक सूक्ष्म भाव मन होता है ।

तपाराधन का मूल लक्ष्य ही यह होता है कि पांचों इन्द्रियो पर काबू पाकर आत्मा मन की गति को भी अपने काबू मे ले । प्रतिसंलीनता का तप विशेष रूप से आत्मा को इस प्रकार की सक्षमता प्रदान करता है । इसे इन्द्रियो और मन के निग्रह का तप कह सकते हैं ।

संयम का मूल—स्पर्शेन्द्रिय निग्रह

समस्त इन्द्रियो और मन के निग्रह का मूल स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह में रहा हुआ है । प्रतिसलीनता के तप का अन्तिम लक्ष्य होता है कि मन की अशुद्ध गति का अवरोध कर लिया जाय, क्योकि सारी इन्द्रियो की गति का मन पर सीधा प्रभाव होता है । कभी व्यक्ति सोचता है कि इन्द्रियो की चचलता को रोक ली जाय, किन्तु मन की चचलता नहीं रुकती है और वह फिर इन्द्रियो की चचलता को भी नही रोक पाता है । इस कारण सबसे पहले यह सोचा जाना चाहिये कि मन पर अकुश कैसे लगाया जा सकता है ? और जब इस प्रश्न का उत्तर खोजने लगेंगे तो समझ मे आ जायगा कि स्पर्शेन्द्रिय याने कि शरीर के व्यापारो को नियन्त्रित करने की चेष्टा करें तो मन को भी संयमित बनाया जा सकेगा । इस दृष्टि से सयम का मूल स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह को कह सकते हैं ।

मन सारे शरीर के साथ सलग्न होता है । मन जैसे स्पर्शेन्द्रिय के विषय का अनुभव करता है, वैसे ही कर्णेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा रसेन्द्रिय के विषयो को भी अनुभवता है । अब यह स्थिति सामने आती है कि आपने स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह का प्रयत्न किया तो स्पर्शेन्द्रिय से लगने वाले मन का तो निग्रह हो गया, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय के साथ सलग्न मन का निग्रह कैसे होगा ? नाक के जरिये गन्ध का मजा लेने वाला मन कैसे रुकेगा ? आप शरीर को भूल कर बिठा दीजिये तो शरीर के साथ व्यवहार करने वाले मन

देख अजना के मन में उस के पूर्व-कृत किन-किन कर्मों की याद आई ?

[७] नवजात हनुमान की वीरता का प्रमाण दो ।

[८] रणांगण से लौटकर खोई हुई अजना को पवनजय ने कैसे पाया ? संक्षेप में कहो ।

[९] 'बाल-विवाह की परिपाटी ही सम्पूर्ण बुराइयों की जड़ है ।' कैसे ?

सदा न्याय की बात कहो,
चाहे जग रूठे रूठन दो ।
निज ध्येय पै अपने डटे रहो,
पर सत्य को कभी न छूटन दो ॥

× × ×

जिसमें समाज का लाभ होय,
वह कार्य अवश्य हो कर लीजो ।
जो कष्ट पड़े सो सब सहना,
यह स्वर्ण समय नहीं तज दीजो ॥

× × ×

जगति में सत-शील का महिमा है,
सूरज सम सत्य उजागर है ।
शीलवती नारी का गौरव
विश्व-जीवन की धरोहर है ॥

—गुरुदेव श्रीजैनदिवाकरजी म०

किन्तु उसका स्थान इन्द्रियों से पृथक् रखा गया है। पांचों इन्द्रियाँ अलग तौर से गिनाई गई है। आंखें और कान दो दो हैं और नासिका के छिद्र भी दो हैं, लेकिन उनका विषय एक-एक ही है। जिह्वा और त्वचा भी एक-एक ही कहलाती है, परन्तु इनका विषय-क्षेत्र विस्तृत होता है। इन सबके भीतर सयोग मे रहने वाला और पांचो इन्द्रियो के साथ समभाव से व्यवहार करने वाला एक तत्त्व (इनमेटर) है, वही मन कहलाता है। इसी कारण इसको अतीन्द्रिय भी कहते हैं। यह मन द्रव्य मन कहलाता है। इससे भी अधिक सूक्ष्म भाव मन होता है।

तपाराधन का मूल लक्ष्य ही यह होता है कि पांचों इन्द्रियो पर काबू पाकर आत्मा मन की गति को भी अपने काबू मे ले। प्रतिसंलीनता का तप विशेष रूप से आत्मा को इस प्रकार की सक्षमता प्रदान करता है। इसे इन्द्रियो और मन के निग्रह का तप कह सकते हैं।

संयम का मूल—स्पर्शेन्द्रिय निग्रह

समस्त इन्द्रियो और मन के निग्रह का मूल स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह में रहा हुआ है। प्रतिसलीनता के तप का अन्तिम लक्ष्य होता है कि मन की अशुद्ध गति का अवरोध कर लिया जाय, क्योकि सारी इन्द्रियो की गति का मन पर सीधा प्रभाव होता है। कभी व्यक्ति सोचता है कि इन्द्रियो की चचलता को रोक ली जाय, किन्तु मन की चचलता नहीं रुकती है और वह फिर इन्द्रियो की चचलता को भी नही रोक पाता है। इस कारण सबसे पहले यह सोचा जाना चाहिये कि मन पर अकुश कैसे लगाया जा सकता है? और जब इस प्रश्न का उत्तर खोजने लगेंगे तो समझ मे आ जायगा कि स्पर्शेन्द्रिय याने कि शरीर के व्यापारो को नियन्त्रित करने की चेष्टा करें तो मन को भी सयमित बनाया जा सकेगा। इस दृष्टि से सयम का मूल स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह को कह सकते हैं।

मन सारे शरीर के साथ सलग्न होता है। मन जैसे स्पर्शेन्द्रिय के विषय का अनुभव करता है, वैसे ही कर्णेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा रसेन्द्रिय के विषयो को भी अनुभवता है। अब यह स्थिति सामने आती है कि आपने स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह का प्रयत्न किया तो स्पर्शेन्द्रिय से लगने वाले मन का तो निग्रह हो गया, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय के साथ सलग्न मन का निग्रह कैसे होगा? नाक के जरिये गन्ध का मजा लेने वाला मन कैसे रुकेगा? आप शरीर को भूल कर बिठा दीजिये तो शरीर के साथ व्यवहार करने वाले मन

पीहर का प्रेम

नारियों को अपने मायके के प्रति बड़ी ही मोह-ममता होती है। उन्हें अपने पीहर की छोटी से छोटी वस्तु भी बडी से बड़ी बहुमूल्य और अत्यन्त प्यारी जान पड़ती है। वे अपने पीहर के किसी भी व्यक्ति की ओर से दी हुई वस्तु को स्वर्गीय देन समझती हैं। यही कारण है, कि वे उन्हे बडे प्रेम और ऐसे अवसर पर काम में लाती है। जिस समय पांच आदमी उन्हे देखें और उन के पीहर की बडाई करें।

कलावती ने अपने भाई के द्वारा दिये हुए उन स्वर्ण-निर्मित कंगनों को अपने हाथों में धारण कर लिया।

राजा शंख का संदेह

कुछ ही दिन बीते होंगे कि, राजा शंख भी अपने काम से निपट कर अपनी राजधानी को लौट आया। राज-भवन में ज्योंही वह घुसा, दूर ही से उस की दृष्टि कलावती के हाथ में पहने हुए उन आभूषणों पर पडी। तब तो उस के क्रोध की सीमा न रही। वह उस के चरित्र के विषय में भाति-भांति के कुविचार अपने मन में कर ने लगा। उस ने अनुमान किया –

"ओह! जिसे मैं ने आज तक पतिव्रता और सदाचारिणी समझा था। वह तो बडी ही कुलटा और दुराचारिणी निकली। जिसे मैं सदा-सर्वदा चाहता हू, वह और ही को चाहती है। यदि यह बात सच न होती, तो ये अनमोल आभूषण इस के पास आये भी कहा से होते? इसलिए ऐसी दुराचारिणी स्त्री को जितना भी जल्दी हो सके, घर से निकाल अलग कर देना चाहिए।

अबला–सबला : एक पहेली

में एकाग्र था, उसने कुछ सुना ही नहीं। जब कुछ देर बाद वह गुरु जी के पास गया तो उन्होने सहज-भाव से पूछ लिया कि अभी निकला वह जुलूस किस बात का था ? शिष्य ने कहा—मुझे तो किसी जुलूस का पता ही नहीं है। गुरु ने कहा—इतने जोरो से ढोल-ढमाके बज रहे थे और तुमने सुना ही नहीं ? शिष्य ने यही कहा - मेरा मन तो निजिध्यासन में एकाग्र था। ढोल-ढमाके बजे होगे किन्तु ध्वनि का वह प्रहार मन की एकाग्रता के कारण मेरे कानो को विचलित नही बना सका।

इन्द्रिय-निग्रह की ऐसी साधना आज भी सम्भव है। "श्रवणेन्द्रिय एकाग्रता निसेवणीया" याने कि श्रवणेन्द्रिय की एकाग्रता का निसेवन किया जाना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की एकाग्रता का निसेवन करना चाहिये। किन्तु यह एकाग्रता सबसे पहले मन की एकाग्रता पर टिक सकती है—मन का निग्रह अति आवश्यक है। इन्द्रियो या मन के निग्रह का यह अर्थ नहीं कि आप बस्ती की चहल-पहल को छोड कर एकान्त पहाडो मे ही चले जावें, बल्कि सच्चा निग्रह तो तब होगा जब चारो ओर के भारी कोलाहल मे आपके कान उसे सुने ही नही और वे जिस काम मे लगाये गये हैं उसी काम में लगे रहे। इसी तरह सामने रंग-बिरगी भीड गुजर रही हो, नेत्र खुले हो - फिर भी एकाग्रता के कारण वह भीड उन नेत्रो के दृष्टिपथ मे ही न आवे। सामने उपस्थित पदार्थों के बीच भी ऐसी ही एकाग्रता के कारण अन्य इन्द्रिया भी उनके विषयो मे लिप्त न हो। ऐसी ही स्थिति निग्रह की स्थिति होती है।

इन्द्रियों की ऐसी एकाग्रता की उपलब्धि इस प्रतिसंलीनता तप के आराधन से ही प्राप्त हो सकती है। इस तपाराधन के साथ भी ज्ञानीजनो का सम्पर्क तथा शास्त्रीय वाणी का निर्देशन मिले तो आराधन को शीघ्र सफल बना कर इन्द्रियो और मन की निग्रह-शक्ति को सुव्यवस्थित एव सुदृढ बना देते हैं।

सम्यक्-ज्ञान, श्रद्धा एव क्रियापूर्वक निग्रह :

जहा जिस इन्द्रिय पर नियन्त्रण पाने की दृष्टि से उसका निग्रह किया जायगा, उस सीमा तक उस इन्द्रिय की गति रुकेगी किन्तु उसी अवस्था मे वैसा हो सकेगा जब मन को सम्यक्-ज्ञान एव सच्ची श्रद्धा के साथ रोकने का प्रयत्न किया जायगा और उसके साथ मे आत्मा का सशोधन करने वाली सम्यक् क्रिया पर तदनुसार आचरण भी किया जायगा। इस पद्धति से इन्द्रियो और मन की एकाग्रता की साधना आज भी की जा सकती है तथा उसमें

भी प्राप्त की जा सकती है।

पड़ा। पर वह कर ही क्या सकता था ? पेट और प्राणों का प्रश्न उस के सामने था। वह हृदय पर पत्थर रख कर कलावती के निकट गया और कहा—

"महाभागे! आप को अपने रथ में बैठा कर जगल की ओर ले चलने की राजाज्ञा मुझे मिली है।"

सारथी के इस कथन को सुन कर कलावती का हृदय हर्ष से उछल पड़ा। आज उस के पतिदेव रथ में बिठला कर उसे जगल की सैर कराने के लिए ले जा रहे हैं। यह जान कर तो उस का हर्ष और दूना हो गया। उन दिनों वह गर्भवती थी और उस में भी प्रसव काल अति ही निकट था। प्रसन्न वदन से वह रथ के समीप आई और उस पर चढ़ बैठी।

कलावती की ठिठक

रथ चल पड़ा और कुछ ही देर सरपट दौड़ने के बाद वह एक भयानक और बडे ही बीहड़ वन में प्रवेश कर ने लगा। यह देख कलावती घबरा उठी। उस ने उसी क्षण सारथी से इतनी दूर निकल आने और उस भयानक वन में प्रवेश कर ने का कारण पूछा। इस के पश्चात् कुछेक क्षणों के लिए वह ठिठक सी रही। कलावती के इस कथन को सुन कर सारथी की छाती भर आई। कलावती ने फिर पूछा—

"वत्स! प्राणनाथ कहा रह गये ?"

इतना सुन कर सारथी की आखें टपक पड़ीं। वह रोते-बिसूरते हुए बोला—

"स्वामिनी! आप के लिए स्वामी की यही आज्ञा है ?"

होती है। आत्मा इन्हें अपने अधीन रखे और स्वाधीन बने—यही तपाराधन का उद्देश्य होता है। शरीर और मन का निग्रह करने की दृष्टि से जो प्रति-संलीनता तप का आराधन करें—चाहे इसे साधु करे या श्रावक—उसकी इसमे पैनी दृष्टि व सूक्ष्म प्रविष्ठि होनी चाहिये तथा शरीर एवं मन पर पारस्परिक नियन्त्रण की प्रक्रिया स्थापित करनी चाहिये। शरीर के व्यापारों पर काबू पाया तो उससे मन रुके और मन पर निग्रह किया तो उससे शरीर के अशुभ व्यापार रुकें। इस प्रकार के अभ्यास से धीरे-धीरे शरीर और मन तथा अन्य इन्द्रियो पर भी स्वेच्छित नियन्त्रण करने का अभ्यास बन जायगा एव शरीर और मन की स्वाधीनता प्राप्त हो जायगी।

स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा या शरीर के विषयों पर पहले सयम रखने की चेष्टा की जायगी और उसके माध्यम से उससे सलग्न मन की गतिविधियो पर नियन्त्रण कायम किया जायगा तो सम्पूर्ण निग्रह के प्रयास मे अधिक सफलता मिलेगी। तब पाचो इन्द्रियों का तप करते हुए मन के धरातल को सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित बनाने पर लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। फिर भी स्मरण रखिये कि यह साधना का क्षेत्र सरल नहीं है। यह मिठाई का खाना नहीं है, लोहे के चने चबाना है। किन्तु साधना के क्षेत्र को कठिन समझ कर भी छोड़ नही देना है। तप और त्याग के जितने सोपान बताये हैं, धीरे-धीरे यथाशक्ति आराधना करते हुए एक-एक सोपान पर चढते जावें तथा सम्यक् ज्ञान, श्रद्धा एवं आचरण के साथ आगे बढ़ते जावें तो आत्म-विकास के उच्चतम स्थान तक पहुंचना भी असम्भव नहीं है। तप और त्याग से अन्दर की पवित्र शक्ति जाग्रत होती है तथा उस शक्ति से शरीर और मन का निग्रह होता है एवं आत्म-शान्ति का अनुभव भी होता है। शरीर और मन की स्वाधीनता ज्यों-ज्यों पुष्ट होती जाती है, आत्म-शान्ति की अनुभूति भी प्रगाढ़ बनती जाती है।

लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव नहीं :

तो जिस अभिप्राय से मैं ये सैद्धान्तिक बातें आपके सामने रख रहा हूं, उनमे मेरा अनुभव भी मिला हुआ है, जिसके आधार पर मैं आपको कहना चाहता हू कि आप इन पर अपना चिन्तन और मनन करें तथा उन्हे अपने जीवन मे उतारने की कोशिश करें। किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव नहीं होती और यह स्थिति ही आत्म-शक्ति की प्रखरता का प्रमाण है। मन मे यह नहीं सोचें कि हम इतना नही कर सकते हैं, वलिक इस दिशा मे जितना भी कर सकते हैं, धीरे-धीरे ही उतना करते रहिये, लेकिन सही दिशा छोड़ कर

उस विरियाजी इक तपस्विनी आवे,
शिसु-रानी को संग ले जावे ॥

—"यह मेरी आंख का तारा नवजात शिशु विकल हो कर रुदन मचा रहा है। हाय! कौन आकर के इस की आंखों का पानी पोंछेगा ? मैं नो उठाने तक में असमर्थ और अपंग हूं। वत्स! दुख उठा ने को क्यों मुझ अभागिनी के पेट से उत्पन्न हुआ ? शील-रक्षक देव! इस बीहड़ वन में अब एकमात्र आप ही का मुझ अनाथिनी और असहाय को आश्रय है। सती शिरोमणि सीता के लिए धधकती हुई अग्नि को आप ही ने तो चन्दन से भी अधिक शीतल बनाया था। माता द्रौपदी की लज्जा को आप ही ने तो रक्खा था। तब क्या इस सकट के समय मेरी सहायता और रक्षा आप न करेंगे ? नाथ! इस अबोध और मूक शिशु की ओर भी तो आप अपनी अकारण कृपा का उदार हाथ बढाइये ?

प्रभु को सच्चाई प्यारी है। परन्तु अन्त करण से पुकारने वाला भी तो उन्हें चाहिए। नखरे से तो वे कभी निकट भी फटक नहीं पाते।

प्रार्थना का महान चमत्कार

रानी की करुणा-पूर्ण आहों और प्रार्थना ने शील-रक्षक देव के सिंहासन को डुला दिया। उन ने उसी क्षण रानी के अपूर्व सत्य-शील आदि गुणों पर रीझ कर उस के हाथ पहले ही के समान ज्यों-के त्यों कर दिए। यह देख रानी का हृदय बासों उछल पड़ा। अपने हाथों को पाकर सब से पहला पुण्य-कार्य उस ने अपने नवजात शिशु को दूध पिलाने का किया। इस से माता और पुत्र दोनों को परम सन्तोष हुआ। उसी समय उसी वन की रह ने वाली तपस्विनी वहा आई और रानी समेत पुत्र को अपने आश्रम में ले गई।

भाई की भेंट : शंख द्वारा पश्चात्ताप

उधर उस दुष्टा स्त्री ने रानी के दोनों कटे हुए हाथों को राजा

मन, वचन, काया के योगों का सहकार

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती......"

परमात्मा के चरणों मे प्रार्थना के माध्यम से जीवन के स्वरूप को जानने का प्रयास किया जा रहा है। इस अन्तर्जीवन मे शान्ति का जो दिव्य स्वरूप विराजमान है, उसे अभिव्यक्त करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जा सकते हैं। आत्मिक शक्ति एवं शान्ति का जिन किन्ही भव्यात्माओ ने विकास किया, उन्होने उस विकास मे पुरुषार्थ के माध्यम को प्रमुख स्थान दिया। पुरुषार्थ से युक्त बनने पर आत्मा अपने योग बल की शक्ति से सर्वोच्च लक्ष्य तक को सिद्ध करने मे समर्थ बन सकती है। यह योग बल क्या होता है? योग की परिभाषा बताई गई है कि अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जिस माध्यम के जरिये आत्मिक शक्ति का प्रकटीकरण होता है, वह माध्यम योग होता है।

आत्मिक शक्ति के प्रकटीकरण की दृष्टि से यह माध्यम तीन प्रकार का हो जाता है याने कि योग के तीन भेद हो गये—मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग। इस शरीर मे रहती हुई आत्मा ही वीयन्तिराय कर्म का क्षयोपशम करती है तथा अपनी योग-शक्ति को प्रकट करके इन तीनो योगो के माध्यम से आन्तरिक पवित्रता के परम स्वरूप को प्राप्त करती है। मन, वचन और काया—ये नाम कर्म की प्रकृति के परिणाम होते हैं। इन तीनों की उदय अवस्था में आत्मिक-शक्ति का सही दिशा में प्रयोग हो तो आत्मा अपने प्रणिधान को शुद्ध एवं पवित्र बना सकती है। इस मानव तन सहित कभी किसी आत्मा ने अपना परम शुद्ध प्रणिधान प्राप्त नहीं किया, न परम आत्म-कल्याण किया

रूप को ग्रहण नहीं करेंगे । वे किन्हीं त्यागी सन्त महात्मा के दर्शन करके आन्तरिक रूप से प्रफुल्लित होगे । यह उनका प्रशस्त विषय होगा । जहा कहीं सुगन्ध या दुर्गन्ध का विषय घ्राणेन्द्रिय के सामने आया तो वहा समभाव की स्थिति रहेगी । वैसे ही रसना के स्वाद और त्वचा के स्पर्श मे समता का अनुभव होगा । इसलिये प्रशस्त अवस्था को शुभ योग की सज्ञा दी गई है । इससे अप्रशस्त विषय का निरोध होता है । अप्रशस्त विषय आत्मा को अपने मूल स्वरूप से विस्मृत बनाते हैं तो प्रशस्त विषय आत्मा को अपने मूल स्वरूप का ध्यान दिलाते हैं । इस कारण अप्रशस्त विषयों का निरोध करना—यही प्रतिसंलीनता का तप कहलाता है ।

विषय—प्रतिसंलीनता तप :

प्रतिसंलीनता तप के सम्बन्ध में जो चर्चा चल रही है, उसमें वह तप जो अप्रशस्त विषयों का निरोध करने मे सहायक बनता है, एक भेद रूप मे विषय—प्रतिसलीनता तप कहलाता है । इसका अर्थ है—विषयो मे अपनी अवस्था से गोपन करना, जो अप्रशस्त विपयो के सन्दर्भ मे किया जायगा । अप्रशस्त विषयो की तरफ जीवन मे जो लगाव देखा जाता है, वही लगाव जब अति प्रगाढ बन जाता है तो वह आत्मा को अप्रशस्तता की चरम सीमा तक भी ले जा सकता है । वह आत्मा को अपनी स्वयं की ही विस्मृति मे डाल देता है । इस अवस्था मे आत्मा को गहरी बेहोशी जैसी आ जाती है । ऐसी बेहोशी की हालत मे आत्मा को प्रणिधान की शुद्धता के सम्बन्ध मे कोई जागरण नहीं रहता और ऐसी ही हालत मे मन, वचन तथा काया के योग भी अनियन्त्रित हो जाते हैं । इन योगो का यदि आत्मिक-शक्ति सही तरीके से प्रयोग करती है तो ऐसी बेहोशी नहीं आती है, लेकिन गलत तरीके से प्रयोग करने पर यह बेहोशी बढती जाती है । यह अपने आप ही अपने नेत्रो पर कपड़ा डालना होता है और प्रयास करें तो अपने ही हाथो कपडा हटाया भी जा सकता है । आत्मा अपने को स्वय ही मारती है और स्वय ही तारती है । पतन या उत्थान का क्रम मोहदशा पर आधारित होता है । इस मोहदशा को जो नियन्त्रण मे रखना है या घटाना है, वही विषय—प्रतिसंलीनता का तप है ।

कभी-कभी मेरे भाई जिज्ञासा से यह प्रश्न करते हैं कि मोह की अप्रशस्तता क्या है ? मोहदशा पर नियन्त्रण कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?
। रूप मदिरा के प्रभाव जैसा होता है । मन, वचन और काया के योगों
। जैसा नशा इस प्रकार छा जाय कि आत्मा अपने मूल स्वभाव चेतना

अपने आठों कर्मों का अन्त कर मोक्ष में जावेंगे।

अभ्यास के लिये प्रश्नः—

[१] कलावती कौन थी ?

[२] जयसेन ने विदेश-यात्रा को निकलते समय मन में क्या सोचा ?

[३] 'कचन ही सारी आपदाओं और सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है।' इस कथन की सच्चाई को प्रकट करो।

[४] 'अविचार के आवेश में आकर मनुष्य क्या-क्या अनर्थ कर बैठता है ?' महाराज शंख के उदाहरण पर से इस कथन की पुष्टि करो।

[५] सिद्ध करो कि 'अबलाएं सचमुच में अबलाए नहीं होती, वे सबलाए होती हैं।'

[६] "असली आसूओं में देवताओं के सिंहासन को हिला देने की शक्ति होती है।" कैसे ?

[७] 'अपने कृत-कर्मों का फल एक न एक दिन प्राणियों को अवश्यमेव सहना पड़ता है।' कैसे ?

मानव ! धर्म रूपी हीरे पर,
श्रद्धा सान चढाओ तुम ।
तो अवश्य ही प्रभु-दर्शन कर,
उच्च-गति को पाओ तुम ॥

—गुरुदेव श्रीजैनदिवाकरजी म०

दुरुपयोग किया जाता है तो वह दशा कितनी दयनीय होती है ? आज अर्थ प्राणियो की यह कैसी विचित्र दशा हो रही है कि वे समझ कर भी नही समझते ।

अप्रशस्त मोह की स्थिति मे आत्म-जागरण की आवश्यकता होती है क्योकि उस जागरण में आत्मा प्रतिसलीनता के तपाराधन मे अभिरुचि रखने लगती है और इस तपाराधन से तब मोहदशा के निग्रह के साथ नष्ट होते हुए शक्ति स्रोतो का केन्द्रीकरण होता है तथा उनमे प्रणिधान की शुद्धता का सचार होने लगता है । इस कारण प्रतिसलीनता का तप प्रत्येक ससारी आत्मा के लिये हितावह होता है । मोह के विकारो के सम्बन्ध मे आधुनिक मनोविज्ञान-वेत्ता जो कुछ चिन्तन प्रस्तुत करते हैं, वह पूर्ण नहीं है । अभी तक उनका चिन्तन गहरी अनुभूतियो को नहीं पकड पाया हैं । वे अपने बाहरी अनुभवो के आधार पर जो कुछ कह रहे हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि वे आन्तरिक जीवन मे सक्रिय रहने वाले सूक्ष्म तत्वो का विश्लेषण नही कर पाये हैं । मन की वृत्तियों की कुछ दूरी तक ही वे पहुच पाये है, उनकी गहराई अभी मनो-वैज्ञानिको की पकड से बहुत दूर है । ज्ञान के क्षेत्र मे भी अप्रशस्त मोह बहुत बडा बाधक स्वरूप होता है । यह मस्तिष्क को शून्य बना देता है और उसे गहरे चिन्तन मे प्रविष्ट नही होने देता है । ऐसी अवस्था मे जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वे अपूर्ण होते हैं । जैसे क्लोरोफार्म या अन्य किसी ऐसे पदार्थ से शरीर की सवाहक नाडिया शून्य हो जाती है, उसी प्रकार इस अप्रशस्त मोह के कारण ज्ञान तन्तु भी शून्य से हो जाते है । अप्रशस्त मोह से प्रभावित दशा मदिरा पान की अवस्था के समान शून्य, असम्बद्ध एव दिशाहीन बनी रहती है ।

आत्मा की सावधानी से त्राण

अप्रशस्त मोह के उदय की अवस्था मे यदि आत्मा की सावधानी बनी हुई रह जाय या जाग्रति आ जाय तो आत्मा उसमे अपने त्राण का मार्ग खोज सकती है एव अपने प्रणिधान की शुद्धता की रक्षा कर सकती है । मदिरा का नशा भी तो आखिर ऐसी ही सावधानी से छूटता है । इस सावधानी को बनाने और बढाने के लिये आवश्यकता इस बात की होती है कि मनुष्य इस प्रकार के जाग्रतिकारक साहित्य का अध्ययन करे, चिन्तन-मनन का क्रम बढावे तथा तप के विविध प्रकारो मे शरीर को तपाता रहे । यह क्रम लम्बा होगा । जब तक वह केवलज्ञानी न बन जावे—यह क्रम चलता रहना चाहिए । इसके

रावण के द्वारा हरण हो चुकने पर जब श्रीराम ने इन के कुछ आभूषणों को जंगल में पडे पाया था, तब अपने भाई लक्ष्मण से उन्हों ने पूछा था—

"हे लखन ! जरा पहचान करो, क्या भूषण जनक-सुता के हैं ?
इनसे गन्ध प्रेम की आती क्या, उस ही बिज्जुलता के हैं ?
इन को अपने कर में लेकर, हे भाई लखन ! पहिचानो तो।
कुछ गौर करो इन के ऊपर सीता के भूषण जानो तो॥"

—"प्यारे लक्ष्मण ! जरा पहिचान तो करो कि ये गहने जनकनन्दिनी ही के हैं या किसी और के ?" इस पर लक्ष्मणजी ने जो नम्र उत्तर दिया, जरा उसे भी सुन लीजिये—

"कर जोड लखन श्रीरघुवर से, अति विनय सहित यूं कहने लगे।
जिस भांति शान्ति-रस के समुद्र, ले-ले तरंग शुभ बहने लगे॥
ये तो भूषण हैं ग्रीवा के, इन को मैं कैसे बतलाऊं ?
जो चरण-आभूषण ये हों तो, पहचान उन्हीं की समझाऊं॥

माताजी के चरण का, मैं सेवक रघुनाथ !
सदा चरण मैंने लखे, और न जानूं बात॥

मैं तो सेवक हूं चरणों का, चरणों की सेवा करता था।
अर्चन योग्य चरण पावन जो, उन को हिय में धरता था॥
मैं तो बिछुओं का सेवक हू, कुण्डल की मुझे पहिचान नहीं।
मैंने तो चरण निहारे हैं, देखे माता के कान नहीं॥
पद-भूषण नाथ ! अगर होते तो उन को तनिक जानता मैं।
अन्य अंग जब देखे ही नहीं, फिर कैसे उन्हें चीन्हता मैं ?

—'स्वामिन् ! मैं तो माता सीताजी के चरणों के गहनों को छोड़ और किसी गहने को जानता नहीं। क्योंकि भावज सीतादेवी के

करने के बाद गृहस्थ अवस्था में भी शैय्याएं पृथक्-पृथक् होनी चाहिये। बल्कि कक्ष भी पृथक् होना चाहियें। यह काम को जीतने तथा प्रतिसलीनता के तपाराधन का पहला सोपान होगा। यदि इस प्रकार की मर्यादाओ का पालन नही किया जाता है तो कही न कही से विकृति प्रवेश कर जाती है और फिर विकार के विस्तार को रोक पाना दुष्कर बन जाता है।

इस सम्बन्ध मे एक ऐतिहासिक दृष्टान्त का उल्लेख आता है। धारानगरी मे महाकवि कालीदास रहते थे। कालान्तर मे उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। एक बार राज्यसभा में बैठे हुए धारानगरी के नरेश को कुछ नवीन अनुभूति हुई तथा उन्होने सबके सामने प्रश्न उपस्थित किया कि "पाप का बाप कौन है? राज्यसभा मे कई विद्वान् बैठे हुए थे और सभी उस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में विचार करने लगे। जब किसी से कोई उत्तर नही बन पडा तो लोगो ने महाकवि कालीदास की ओर सकेत किया कि इस प्रश्न का उत्तर राजपडित दें। कालीदास ने इसके लिये चौबीस घण्टो का समय मागा जो उन्हे दे दिया गया। घर पहुच कर वे ग्रन्थो को इधर-उधर टटोलने लगे कि उस प्रश्न का कहीं उत्तर मिले। पत्नि थी नहीं, उनकी विवाहित पुत्री भोजन कराने आई तो उसे उन्होने कह दिया कि आज वे जटिल समस्या मे फसे हैं, भोजन नही करेंगे। पुत्री भी विदुषी थी। उसने पूछा—पिताजी, ऐसी भी क्या समस्या है? काश, मैं कुछ बतादू।

कालीदास ने कहा—बेटी, जब मुझसे भी उत्तर खोजा नही जा रहा है तो तुम क्या बताओगी?

फिर भी बताइये तो सही—पुत्री ने आग्रह किया और कालीदास ने राज्यसभा की घटना सुनाकर उपस्थित प्रश्न बता ही दिया और कहा कि उन्हे इसका उत्तर कल ही देना है, वरना राजपद छिन जाने का खतरा पैदा हो गया है। पुत्री ने कहा कि इस समस्या का समाधान इन पुस्तको में मिलने वाला नहीं है, अभी तो आप भोजन कर लीजिये। मैं ससुराल जाकर अभी ही जल्दी वापिस आ रही हूं, तब आपको इसका समाधान बता दूंगी। यह कह कर वह अपनी ससुराल के मकान मे चली गई।

कालीदास ग्रन्थों का अवलोकन कर ही रहे थे कि वह वापिस आई और बोली—आज रात मैं यहा ही सोऊंगी। सुबह आपको समाधान बता दूंगी। अभी तो मुझे नीद आ रही है। और वह पिता जी के कमरे मे ही सो गई। वे भी कई ग्रन्थो को देखने के बाद निराश होकर सो गये। मध्य

तो उस बांध का भाग्य क्या होगा ? वह जरा जितना छेद बड़ा होते-होते एक दिन सारी लम्बी चौड़ी दीवार को तोड़ देगा और वह बांध टूट जायगा। चारित्र्य के बांध की भी ऐसी ही स्थिति होती है। मन, वचन एव काया के योगो का निग्रह किया हुआ है जिसका रूप बांध की दीवार की तरह ठोस समझ में आता है— मोह और काम का पानी उस दीवार से बन्धा रहता है। निग्रह की ऐसी ठोस अवस्था के बावजूद यदि कही विजातीय के साथ एकान्त-वास का मौका आ गया या किसी दूसरी कारण सामग्री का सयोग हो गया तथा जरें जितना भी उस निग्रह मे छेद बन गया तो पूरा बाध बनाने की सारी तपस्या पल भर मे विचलित हो सकती है।

मन, वचन एव काया के योगों के निग्रह मे इसी कारण मर्यादाओं को भी विशेष महत्व दिया गया है कि अपनी निरोध क्षमता के ठोस होने की प्रतीति के बावजूद भी मर्यादाओ का सम्यक् विधि से पालन किया जाय। अप्रशस्त मोह एव काम के विषय ऐसे ही होते हैं जिनके प्रति आत्मा की निरन्तर सावधानी जरूरी होती है और इस सावधानी को बनाये रखना केवल प्रतिसलीनता के तप की आराधना से ही सम्भव हो सकता है। जहा मोह के इस अप्रशस्त भाव से विषय-प्रतिसलीनता सम्बन्धी तप करना है, वहा जीवन एवं आत्मिक शक्तियों की सुरक्षा के लिये विजातीय व्यक्तियो एव तत्वो से बच कर चलना चाहिये तथा मन, वचन व काया के योगों को भी शुभ बनाये रखना चाहिये। इसके साथ ही दिन के समय में जब इधर-उधर परिभ्रमण हो तो नेत्रों पर निग्रह रहना चाहिये। नेत्रों का विषय रूप दर्शन होता है; किन्तु यदि उनके दृष्टिपथ मे कोई ऐसा दृश्य आ जाय जिसके देखने से आन्तरिक जाग्रति फिर मूर्छित अवस्था को प्राप्त होती हो तो उसका मत्र यह है कि आप अपनी दृष्टि को शुद्ध प्रणिधान के साथ दूसरी ओर मोड लें तथा एक ध्यान से "माता, माता, माता" शब्द का उच्चारण करने लग जाय। मन मे भी ऐसी भावना संचरित कर लें कि मैं माता के दर्शन कर रहा हू। मन मे माता, वचन मे माता तो काया मे भी फिर माता का स्वरूप ही अंकित हो जायगा। माता की भावना और माता शब्द के उच्चारण के साथ जब दृष्टि के विषय मे भी माता ही का रूप आता है तो उस रूप दर्शन से अप्रशस्त मोह दशा पर कठिन नियन्त्रण लग जायगा तथा मन, वचन एवं काया के योगो के निग्रह से बहुत बड़े तप की साधना बन जायगी।

तर्भूत वैज्ञानिक विषय :

यह कितना अन्तर्भूत वैज्ञानिक विषय है जिसकी गहराई मे आधुनिक

ही कौनसी थी ? नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

कामातुराणां न भय न लज्जा,
क्षुधातुराणा न बल न तेज ।
तृष्णातुराणां न सुहृन्न बन्धु,
चिन्तातुराणा न सुख न निद्रा ॥

—जो मनुष्य कामान्ध होते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार का कोई डर और लाज नहीं होती। भूख से पीड़ित मनुष्यों में बल और -स्विता हीं होती। लालची मनुष्य अपने मित्र और बन्धु-बान्धवों के भी प्राण हरण करने पर उतारू हो जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य चिन्ता से ग्रसित होता है। वह न तो कभी पूरी नींद ही सो सकता है और न किसी सुख का उपभोग ही वह कर पाता है।

कवि के इसी कथन के अनुसार मणिरथ भी भोगों में अन्धा बन कर अपने सहोदर भाई तक के प्राण लेने पर उतारू हो गया। ऐसे भ्रातृ-प्रेम पर सौ सौ बार धिक्कार!

भाई का संदेश भाई को

एक दिन मणिरथ ने अवसर देखा और अपने भाई युगबाहु को किसी देश पर विजय पाने के लिये एक छोटी-सी सेना दे कर उसे आदेश दिया, कि 'वहीं युद्ध भूमि में खेत रहे।' परन्तु युगबाहु एक अति ही वीर-योद्धा और कुशल सेनापति था। सेना के छोटी होते हुए भी सफलता ने उसी को वरण किया। विजय प्राप्त कर के कुछ ही दिनों में वह वापिस लौट आया और सुदर्शननगर के बाग में आ टिका। वहा से अपने बडे भाई को उस ने सदेश भिजवाया कि—

"शत्रु-दल पर विजय प्राप्त कर के मैं सकुशल लौट आया हूं।"